किरणों की खोज में

सच्चिदानन्द हीरानन्द वात्स्यायन

सरस्वती प्रेस
वाराणसी: इलाहाबाद

प्रकाशक—

श्रीपतराय

सरस्वती प्रेस, वाराणसी

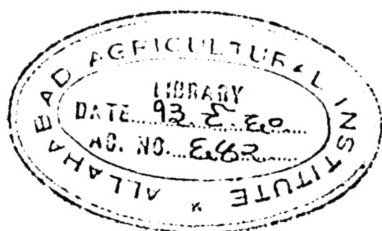
❀ रेखाचित्र, स्केच और अलंकृतियाँ

लेखक द्वारा अंकित

❀ फोटो चित्र

लेखक, सेठ' स तथा भारतीय पुरातत्त्व विभाग द्वारा प्रस्तुत

❀ मूल्य दो रुपये



मुद्रक—

बालकृष्ण शास्त्री

ज्योतिष प्रकाश प्रेस, वाराणसी । ६१६

भूमिका

प्रस्तुत पुस्तक में जिन दो यात्राओं का वर्णन है, कालानुक्रम से उनमें से पहली 'किरणों की खोज में' की गयी यात्रा है। सन् १९२९ में बी० एस-सी० परीक्षा पास करने के बाद लेखक पंजाब विश्वविद्यालय द्वारा अनुमोदित 'कास्मिक रे एक्सपेडिशन' का सदस्य हो कर कश्मीर गया था। इस अभियान के नेता लेखक के विज्ञान के आचार्य, फ़ार्मेन कालेज लाहौर के प्रोफ़ेसर जेम्स मार्टिन बनेड थे।

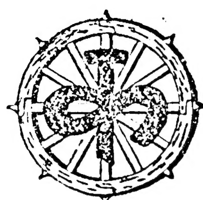
परशुराम से तूरख़म की यात्रा के तीन सोपान थे। पहला शिलङ् से परशुराम कुण्ड और वापस, सन् १९४४ के जाड़ों में, दूसरा शिलङ् से जालन्धर सन् १९४५ के ग्रीष्म में, और तीसरा जालन्धर से तूरख़म (खैबर घाटी)-कोहाट और वापस, दिसम्बर १९४५ जनवरी १९४६ में। ये तीनों यात्राएँ लेखक की सैनिक सेवा से सम्बद्ध थीं; लेखक सन् १९४३-४६ में भारतीय सेना में कप्तान के पद पर रहा।

सन् १९२७-१९३० में लेखक लाहौर में पंजाब विश्वविद्यालय का छात्र था। नवम्बर १९३० में क्रान्तिकारी आन्दोलन के सम्बन्ध में वह बन्दी हुआ और सन् १९३४ तक जेल में रहा। तदुपरान्त दो वर्ष नज़रबन्द भी रहा।

प्रस्तुत पुस्तक के दोनों वृत्तान्त "अरे यायावर रहेगा याद?" नामक ग्रन्थ के अंश हैं, जो सन् १९५३ में प्रकाशित हुआ था।

—प्रकाशक

सूची



हते हैं कि सृष्टि की सर्वोत्तम आकृति चक्र है—क्योंकि उस का आदि-अन्त कुछ नहीं है। मैंने देश की भिन्न-भिन्न सँकरी-चौड़ी, कच्ची-पक्की, ऊबड़-खाबड़ सड़कों पर लुढ़कते-लुढ़कते अनेकों बार सोचा है कि चक्राकृति में सौन्दर्य के लिए बहुत अधिक नम्बर चाहे न भी पाऊँ, अपनी आदि-अन्तहीन गति-क्षमता का दावा तो कर ही सकता हूँ—और यह भी कह सकता हूँ कि स्वयं सुन्दर न हो कर भी मैं संसार के अखिल सौन्दर्य की नींव हूँ, क्योंकि मैं संस्कृति की नींव हूँ। संस्कृति और सभ्यता के विकास में अग्नि के अवतरण के बाद जो दूसरी सीढ़ी मानव प्राणी चढ़ा, वह मैं हूँ; या यों कह लीजिए कि देवताओं के समुद्र मन्थन से जैसे सर्वश्रेष्ठ उपलब्धि अग्नि की हुई, उसी प्रकार मानव-मन-रूपी महासागर के मन्थन से जो श्रेष्ठ नवनीत प्राप्त हुआ, वह है चक्राकार की उद्भावना...

यह मैं कह रहा हूँ, तो चक्र मात्र के साधारण प्रतिनिधि की हैसियत से; नहीं तो व्यक्ति रूप में मैं एक अकिंचन यायावर हूँ, और अपने ही जैसे यायावर 'श्री इन पंक्तियों के लेखक जी' का सहारा—क्योंकि मैं उन की गाड़ी का एक टायर हूँ...

और मैं जो राम-कहानी कहूँगा, वह भी मेरी राम-कहानी इसी लिए है कि वह मेरे चालक की कहानी है। अपने अनुभव को दूसरे के—अपने मालिक के—इतिवृत्त के रूप में कहना ही तो मर्यादा-संगत है; वैष्णव-भक्त राधा और कृष्ण के जीवन में अपने राग-विराग ढाल देते थे, मैं अपने प्रतीक-पुरुष को ही आधार बनाता हूँ। तुलना आप को बड़बोलापन लगे तो यह न भूलिये कि जैसा मुरीद होगा, वैसा ही पीर होगा, उस से बड़ा कहाँ से आयेगा!

मिस्टर पीटर रोलिंग स्टोन्
हैव यू एनी मॉस ?
नो सर, नो सर, आइ' म
रनिंग एट ए लॉस !

अपने प्रतीक-पुरुष को मिस्टर रोलिंग स्टोन नहीं कहूँगा, यायावर कहूँगा; पर बात वही है—

चल-चल देता है लाद-लाद कर बार-बार बनजारा ;
सब ठाठ धरा रह जाता; धन बस दूर क्षितिज का तारा !

यायावर को भटकते चालीस बरस हो चले, किन्तु इस बीच न तो वह 'अपने पैरों तले घास (या मॉस !) जमने दे सका है', न कुछ ठाठ जमा सका है, न क्षितिज को कुछ निकट ला सका है—उस के तारे को छूने की तो बात ही क्या ! कितने स्थल उसने देखे जहाँ बैठ कर ऋषियों ने देहों पर वल्मीक उगा लिये, जहाँ मुनि तपस्या करते-करते पाषाण हो गये, जहाँ देवता जम कर पर्वत-शृङ्ग बन गये, जहाँ मानवों ने ऐहिक कांक्षाओं-वासनाओं से मुक्ति पायी—किन्तु यायावर ने समझा है कि देवता भी जहाँ मन्दिर में रुके कि शिला हो गये, और प्राण-संचार के लिए पहली शर्त है गति, गति, गति ! छुटपन में चीनी कहावतों के एक संग्रह में जिस वाक्य ने उसे सब से अधिक प्रभावित किया था और जिसे उसने अपना गुरुमन्त्र मान कर डायरी के मुख-पृष्ठ पर लिख लिया था, वह था :

'मैं क्यों चाहूँ कि मेरी अस्थियाँ भी मेरे पुरखों की अस्थियों के साथ एक सुरक्षित समाधि-स्तूप में दबी रहें ? जहाँ भी कोई चला जावे, वहीं कोई हरी-भरी पहाड़ी मिल जायगी'...

पूर्व—असम[1]

यायावर को असम में जब नौकरी ही भटकने की मिली, तब उसे लगा मानों क्षितिज का तारा कुछ निकट आ गया है। किन्तु जब जापानी

---

१ 'आसाम' नहीं, असम; 'आसामी' नहीं, असमीया। —ले०

अभियान बढ़ा और पछाड़ खाकर गिर गया, और काम का दबाव भी कुछ हल्का पड़ा, तब उसने समझ लिया कि जल्दी ही इस सीमान्त से स्थानान्तरित होना होगा। इसी लिए जब पूर्वी सीमा-प्रान्त के भी पूर्वोत्तर प्रदेश का दौरा उस के हिस्से पड़ा, तब उस ने तत्परता से स्वीकार किया, और दौरे के प्रोग्राम में कई ऐसे भी स्थान जोड़ लिये जो प्रायः दौरा करने वाले अफ़सरों की सूची में छूट जाया करते हैं—चाहे इस लिए कि 'वहाँ भला क्या काम होगा?' और चाहे इस लिए कि 'कौन आफ़त का मारा वहाँ जायगा?' मन ही मन यह भी ठान लिया कि दौरे पर ही 'अपने कार्यक्रम को तात्कालिक आवश्यकतानुसार बदल सकने' के अधिकार का भरपूर उपयोग किया जायगा—क्योंकि दौरे की पटरी से कुछ इधर या कुछ उधर या कुछ आगे ही तो कैसे-कैसे स्थान पड़ते हैं!

यायावर को इस बार जो ट्रक मिला, उस की हालत बहुत अच्छी न थी। कहूँ कि उस में एक टायर ही बस ऐसा था जिस का भरोसा किया जा सके, तो इसे मेरी आत्मश्लाघा न समझा जाय! एंजिन अठारह हज़ार मील रन कर चुका था—और अठारह हज़ार फौजी मील कितने लम्बे होते हैं, वह भुक्तभोगी मिलिटरी गाड़ियाँ ही जानती हैं!—काँच सब टूटे हुए थे, कारबुरेटर खराब था, तार गल गये थे, बैटरी बदलने लायक़ थी, डायनेमो बीच-बीच में चार्ज करना छोड़ देता था, ब्रेक कमजोर थे··· तिस पर यायावर को रात में गाड़ी चलाने का व्यसन है, और वह बहुधा दूर-दूर की मीटिंगें शाम को रखता जिस से घोर रात के सन्नाटे में सारी सड़क पर निर्बाध अधिकार हो, कहीं रुकना न पड़े, पटरी से उतरना न पड़े, किसी की धूल न फाँकनी पड़े, और शान्ति से सोचा जा सके; नथने फुला कर कामरूपी रात की रहस्यमयी सुगन्ध ली जा सके, जब-तब बीच राह में चौंक कर रुके हुए किसी वन्य जन्तु की चमकती अंगार आँखें देखी जा सकें, फिर वह खरहा हो, कि लोमड़ी-सियार, कि बन-बिलार कि बघेला···और रात की दौड़ में एक यह भी सुविधा थी कि कभी-कभी रैन-बसेरे की समस्या अपने-आप हल हो जाती थी!

किन्तु इस ट्रक के साथ रात की दौड़ कैसे हो? यायावर को चिन्ता नहीं। वह गाड़ी स्वयं चलाता है, शुक्लपक्ष की रातें हैं, उस के शरीर में शायद विटामिन कैरोटीन यों भी यथेष्ट है क्योंकि बत्ती जलाये बिना गाड़ी दौड़ाने में उस की आँखों को कोई कष्ट नहीं होता! बल्कि यह स्निग्ध अँधेरा तो विचार का सहायक है—और चाँदनी में पूरा प्रदेश दीखता है जब कि बत्ती जलाने से केवल सड़क दीप्त हो उठती है और परिपार्श्व पर कालिख पुत जाती है!

तिनसुकिया से आगे कोई वर्कशाप नहीं है तो क्या हुआ? यायावर के पैर में चक्कर है, दिमाग में चक्कर है, भ्रामरी योग में उसने जन्म लिया है और सनीचर की साढ़े साती चल रही है—क्या भटकानेवाली इतनी शक्तियाँ उस की रुकी गाड़ी को चला न देंगी? कब उसे उत्तर-पूर्व का सीमान्त फिर छूना मिलेगा, कब फिर ब्रह्मपुत्र की समतल यात्रा का आरम्भ-बिन्दु, परशुराम का तपोवन और कुंड, कुंडिनपुर के उन महलों के अवशेष जहाँ बैठ कर रुक्मिणी ने कृष्ण की प्रतीक्षा की होगी; गैंडे, हाथी और मिटून (अरना भैंसा) द्वारा सेवित कदलीवन, आबोर और मिश्मी और खामटी वन्य जातियों के आश्रयदाता सदिया सीमाप्रदेश के दुर्भेद्य जंगल देखने को मिलेंगे···और चार-पाँच दिन बाद ही तो माघ-पूर्णिमा है, जिस दिन परशुराम कुंड पर मेला लगता है···निस्सन्देह यायावर का सदिया फ्रंटियर ट्रैक्ट में जाना बहुत जरूरी है, वहाँ उसे बहुत काम है और उस के लिए दौरे के प्रोग्राम में हेर-फेर करना ही होगा!

सेखुआ घाट असम रेलवे की छोटी लाइन का उत्तर-पूर्वीय अन्तिम स्टेशन है। तिनसुकिया से पचास-पचपन मील रेल की पटरी के साथ-साथ सड़क जाती है। राह में डुमडुमा की अमरीकी छावनी और फिर एक बड़ा चीनी शिविर लाँघ-कर, अनेक चाय-बगान, नदी-उपनदी और बेत के जंगल पार कर के सेखुआ घाट का बँगला पड़ता है। किन्तु कोई सोच ले कि घाट पहुँचते ही नदी मिल जायगी तो भूल करेगा, यद्यपि

नाम को घाट के बाद से नदी का पाट आरम्भ हो जाता है। दो-तीन मील और आगे बढ़कर फिर सड़क खो जाती है और मीलों रेती में चलना पड़ता है, तब जा कर कहीं ब्रह्मपुत्र का उतारा मिलता है, जहाँ गाड़ी नाव पर लाद कर पार लगायी जाती है। पार उतर कर फिर दो-तीन मील रेती, और फिर सडक पर चढ़ कर सदिया का छोर मिल जाता है, कुछ आगे बाज़ार है और बायें को मुड़ कर दो-तीन मील जा कर सदिया का दुर्ग, छावनी और कचहरी आदि...

यायावर का ट्रक सर्किट हाउस पर जा रुका। मुझे तब विश्राम मिला; यायावर ने कमरे में सामान जमाया और नक्शा ले कर बैठा। शाम को अंग्रेज़ पोलिटिकल एजेंट से मिल कर 'भीतरी सीमा' के पार के प्रवेश में जाने का परमिट लिया और बाकी तैयारी अगले दिन पर छोड़ दी, ताकि इस बीच ट्रक की और मेरी कुछ खातिर कर ली जाय...

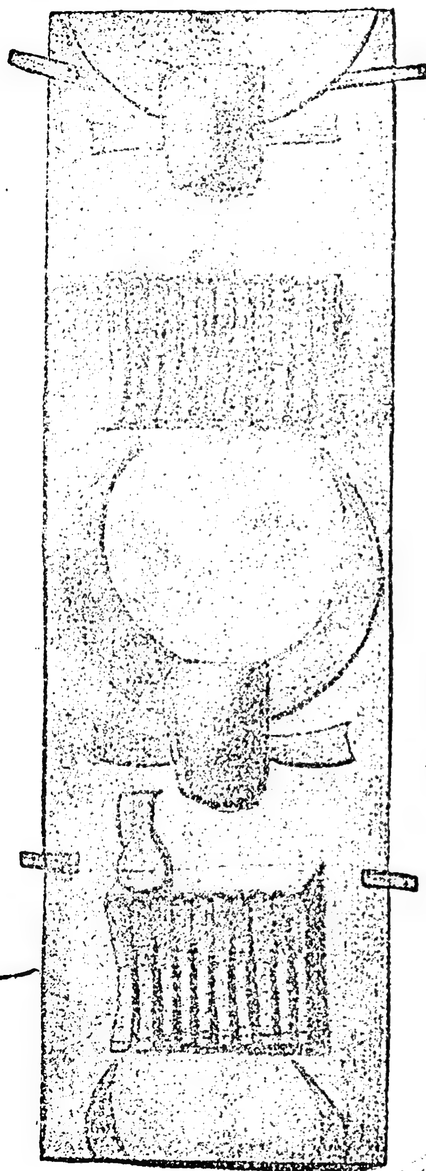
सदिया सीमा प्रदेश तो है ही, यहाँ का पोलिटिकल एजेंट सीधे गवर्नर के अधीन होता, और उस के तथा सदिया के सैनिक कमांडर के हाथ में संपूर्ण शक्ति केन्द्रित होती। भारत में ब्रितानी शासन को दृढ़ करने में किस तरह सीमा प्रान्तों या 'पिछड़े' प्रदेशों के पोलिटिकल एजेंटों और ईसाई प्रचारकों का चोली-दामन का साथ रहा है, इस के अध्ययन के लिए असम के सीमा प्रदेशों का-सा क्षेत्र और न मिलेगा! यायावर प्रायः कहा करता कि देश की पराधीनता सब से अधिक अखरती है तो एक अपने हिमालय के अंग, संसार के सब से ऊँचे शिखर का नाम 'एवरेस्ट' सुन कर, और एक सीमा-प्रदेशों में जाने के परमिट के लिए फ़िरंगी पोलिटिकल एजेंट के दफ्तर में जा कर! देश की प्रत्येक सीमा तीर्थ होती है, नहीं तो देश पुण्यभूमि कैसे होता है? पर अपने ही तीर्थ तक जाने के लिए पर-देशीय सत्ता के अहम्मन्य प्रतिनिधि का मुँह जोहना जैसा चुभता है, उसे भुक्तभोगी जानते हैं...

सदिया फ्रंटियर ट्रैक्ट में भी दो सीमाएँ हैं। एक भीतरी सीमा, एक सीमा। यों तो सदिया में घुसने वाले प्रत्येक व्यक्ति को आने का कारण,

ठहरने की अवधि आदि ब्यौरा देना पड़ता है, पर भीतरी सीमा तक जाने के लिए व्यक्ति को और अधिक कुछ नहीं करना पड़ता। किन्तु इस सीमा के पार जाने के परमिट पोलिटिकल एजेंट स्वयं देता है, और वह सदा या सब के लिए सहल नहीं होता...माघ-मेले के समय परशुराम जाने वाले यात्री जा कर उसी दिन लौटने का, या रात भर ठहरने का परमिट तो फ़ीस दे कर पा लेते हैं, अन्य समय या अन्य प्रकार के परमिट के लिए पूरी जाँच होती है। सदिया से लगभग चालीस मील आगे टामेइ तक मोटर जाती है, परशुराम के लिए फिर टामेइ घाट पर ब्रह्मपुत्र (जो यहाँ पर लुहित कहलाती है, इसी का संस्कृत नाम जो महाभारत में मिलता है लौहित्य है) पार कर के चार-पाँच मील पैदल जंगल पार करना पड़ता है। किन्तु अठारह-बीस मील जा कर ही भीतर सीमा पर पहुँच जाते हैं।

सदिया से तीन-चार मील जा कर ही ब्रह्मपुत्र की एक उपनदी पार करनी पड़ती है, जो अब कुंडिल कहलाती है। प्रसिद्धि है कि इसी नदी के किनारे कुंडिनपुर की राजधानी थी, और यहीं से रुक्मिणी को लेने कृष्ण आये थे। पुरानी रिपोर्टों से पता चलता है कि इस शताब्दी के आरम्भ में भी यहाँ 'अति-प्राचीन' परकोटे आदि के खंडहर थे, किन्तु जहाँ इन के पाये जाने का वर्णन था, वहाँ पर नयी सर्वे के नक्शों में लिखा है 'इम्पेनेट्रेब्ल फ़ारेस्ट'—अभेद्य जंगल ! और यह अभेद्यता काव्योचित अतिरंजना नहीं, यह यायावर ने स्वयं परख कर देख लिया। इस नदी पर पुल नहीं है और गाड़ी को नौका पर लाद कर पार करना पड़ता है; जब तक यह हो तब तक यायावर ने नदी-मार्ग से उस जंगल में घुसने की सोची, क्योंकि स्थल से दुर्भेद्य जंगल डोंगी में बैठकर जाने वाले के लिए उतना दुर्भेद्य नहीं रहता...पर जल्दी ही उसने समझ लिया कि दो-चार दिन की फ़ुरसत न हो तो पड़ताल करना भी व्यर्थ है...



पहाड़ी काष्ठकार्य—झोंपड़े के किवाड़ पर मंगलसूचक मिठून मस्तक

कदली-वन...

जिसने वह नहीं देखा, वह नहीं मानेगा कि संस्कृत वाक्यों में कदली-वन में विचरते हाथियों का जो वर्णन मिलता है, वह अक्षरशः सत्य हो सकता है। जंगली ही सही, केले के इतने बड़े जंगल कि दो घंटे मोटर दौड़ा कर भी पार न हों...और उन की चिकनी,गहरी,हरी छाँहों में कहीं हाथियों के झुंड, और कहीं बड़ी शालीनता से घूमते मिठून... मिठून अरना भैंसा ही होता है, किन्तु अरने भैंसे से कहीं अधिक गठे शरीर वाला और फुर्तीला... वन्य जातियाँ सभी मिठून को पूज्य मानतीं हैं, कुछ जातियाँ अपने को मिठून-कुलोत्पन्न बताती हैं और मिठून को अपना पूर्वज मान कर पूजतीं हैं। कहीं-कहीं मादा मिठून पालते भी हैं...

बारह-एक मील जाकर होलोगाँव का छोटा पड़ाव था, जहाँ अमरीकी सैनिकों ने शायद रेडियो चौकी बना रखी थी। पोलिटिकल एजेंट ने बताया था कि यहाँ के सैनिकों ने मिठून के धोखे में मिश्मियों की कुछ भैंसे मार डाली थीं; फिर एजेंट के बीच-बचाव कर के हरजाना दिलाने पर किसी तरह निबटारा हो सका था। अमरीकी प्रायः किसी के भुलेखे में किसी को मारते और फिर हरजाना भरते रहते थे! जहाँ ऐसी घटना या घटनाएँ हो जायँ, वहाँ कुछ देर के लिए खाकी वर्दी बहुत अप्रिय हो जाती—क्योंकि वनवासियों के लिए सब फ़ौजी एक हैं, फिर फ़ौजियों में आपस में भले ही यह हो कि अंग्रेज अमरीकी को मूर्ख कहे, अमरीकी अंग्रेज़ को असामाजिक, या हिन्दुस्तानी एक को दम्भी और एक को आवारा! तभी यायावर इस प्रदेश में विशेष सतर्क भाव से मोटर चला रहा था। कुछ राह चलते मिश्मियों ने हाथ उठा कर गाड़ी रोकी तो उसने रुक कर चार-छः को पीछे बिठा तो लिया, और मुड़-मुड़ कर उन की ओर को उन्हीं की-सी खुली चौड़ी हँसी हँसता रहा, पर मन ही मन सोचता रहा कि इन के कन्धों पर कसे हुए तीर-धनुष और कमर से खोंसे हुए खाँडे किस-किस काम आ सकते हैं...पर अपने-अपने पड़ाव पर ये अतिथि उतरते गये और एक अद्भुत मूर्धन्य स्वर में धन्यवाद दे कर और हँस कर चलते गये...टिज़ू के बाद जब अन्तिम कुछ मील के जंगल में प्रवेश हुआ, तब उस की अत्यन्त ऊँची-नीची काई और कीचड़ की फिसलन-भरी कच्ची सड़कें पार करने के लिए ट्रक में रह गये केवल यायावर, उस का अनुचर जीतबहादुर लामा, और कुन्दनसिंह जो कभी शिलङ में नगरपालिका (म्युनिसिपैलिटी) का मेहतर था, किन्तु यायावर के साथ पहले अर्दली हुआ था और फिर ट्रक का क्लीनर—जिस के लिए वह वेतन पाता था नौसिखिये ड्राइवर का—और जिस को अगर कोई कभी 'ड्राइवर साहब' कह कर आवाज़ दे देता तो वह ऐसा विभोर हो कर झूमने लगता मानों अब गिरा, अब गिरा...

जंगल पार कर के पेड़ों के तने जोड़ कर बनाये हुए एक काठघर के नीचे ट्रक रुका। यह टामेइ का पड़ाव था, जहाँ से उत्तर को एक

रास्ता रीमा (उत्तरी बर्मा) को जाता है। कभी यह भारत और चीन को जोड़ने वाला एक मार्ग रहा होगा, पर अब नहीं। उन दिनों अवश्य इस की नयी 'सर्वे' हुई थी और सड़क बनाने का विचार हो रहा था, आरम्भ का कुछ अंश बना भी था। पड़ाव से कुछ आगे ही मिश्मियों की छोटी-सी बस्ती थी, कई-एक नंग-धड़ंग बच्चे आ कर ट्रक को देखने लगे। दो-तीन फ़र्लांग जा कर लुहित का किनारा मिला। नदी यहाँ वेगवती थी, निर्मल जल में नीचे पत्थर दीख पड़ते थे, पर यहाँ भी उस का रूप वैसा था जैसा पहाड़ छोड़ने पर नदी का होता है—लगभग जैसा हृषीकेश में गंगा का है—यद्यपि यहाँ के जंगल की तुलना नहीं है।

नद पार कर के चार मील जंगल का रास्ता।

जंगल में बीच-बीच में खुला घास-भरा प्रदेश आ जाता, जिस में महाकाय सेमल के धवल-गात पेड़ मानों आगमिष्यत् रक्त-प्रसूनों की सुलगती हुई पूर्वानुभूति से कंटकित हो रहे थे; और कहीं-कहीं किंशुकों के झुरमुट। कुछ ही दिन में इन में आग खिल जायगी; पहाड़ियों के पार्श्व को चिपटती हुई, लपलपाती एक के बाद एक रूख को लीलती हुई ऊपर तक फैल जायगी, और ब्रह्मपुत्र का बालुका के पीले उत्तरीय में लिपटा हुआ नील गात, मानों वसन्त-श्री के लाल चुम्बनों से मुद्रांकित हो उठेगा! फिर धीरे-धीरे मद उमगेगा और उस का उद्बुद्ध पौरुष आसपास के प्रदेश को लील लेना चाहेगा—लील लेगा—और अपनी सफलता के खेद से खिन्न और गँदला हो उठेगा...

किन्तु रूपक को और दूर तक खींचना आवश्यक नहीं है, चट्टानों के बीच की गली से हो कर यायावर एक कुछ खुली जगह पहुँच कर ठिठक गया है। सामने परशुराम का कुंड है।

कुंड वास्तव में ब्रह्मपुत्र की धारा का ही एक आवर्त है। नद जब समतल भूमि में प्रविष्ट होता है तब, मानो महासागर में अपनी चरम

निष्पत्ति की खोज में अभिनिष्क्रमण का निश्चय कर के भी, एक बार वह पीछे मुड़ कर महान् स्थित-चेता हिमालय का दर्शन कर लेना चाहता है जिस के आश्रय में उस ने अपनी लगभग आधी यात्रा हँसते-खेलते-उछलते-कूदते ही तय कर ली है। मंडलाकार घूम कर, हिमालय की चरण-रज ले कर, फिर वह धीर गति से आगे बढ़ जाता है। आर्वत के दाहिनी ओर, जहाँ धारा पहले टकराती है, कुछ ऊँचाई पर पहाड़ के पार्श्व से एक सोता फूटता है जिस का जल आ कर कुंड में पड़ता है; यह सोता ब्रह्म-धारा है। बायीं ओर जिस शिखर के पैर छूता हुआ ब्रह्मपुत्र आगे बढ़ता है, उस पर एक छोटा-सा मन्दिर है। यायावर जहाँ खड़ा हो कर दृश्य देखता है, वहाँ पीछे जस्ते की चादर और लकड़ी की कई-एक कोठरियाँ हैं, जहाँ यात्री रात में ठहर सकते हैं।

यायावर ठिठक कर देखता रहता है। इसी तरह कभी परशुराम भी वहीं पर ठिठक कर क्षण भर दृश्य को देखते रहे होंगे, और तब उन्होंने जाना होगा कि उन का स्वप्न ठीक था और यहाँ उन की आत्मा शान्ति पायेगी। तब उन्होंने नीचे उतर कर स्नान किया होगा और मनस्ताप मिटाने का उपक्रम करने से पहले शरीर की क्लान्ति धोयी होगी...

कथा है कि पिता की आज्ञा से मातृ-वध करने के पश्चात् परशुराम के मन में ग्लानि हुई, और वह पिता के आश्वासन देने पर भी अपने को मातृघात के महापातक से मुक्त न मान सके। बहुत तपस्या कर के भी जब उन के मन से पाप का कलुष न धुला, तब एक दिन भगवान् ने उन्हें स्वप्न में दर्शन दे कर उन्हें ब्रह्मपुत्र के इस कुंड में स्नान करने का आदेश किया और कहा कि वहाँ तपस्या करने से उनके मन का परिष्कार होगा। परशुराम खोजते हुए इस स्थल पर पहुँचे; कुंड में और फिर ब्रह्मधारा के नीचे स्नान कर के उन्होंने तपस्या की और पाप के बोझ से मुक्त हुए।

यायावर ने कुंड में, और फिर धारा के नीचे स्नान किया। कुंड का जल बर्फ-सा ठंडा है, 'सोते का जल गर्म। अतः इसी क्रम से स्नान करना

अत्यन्त सुखद प्रतीत होता है। स्नान से पाप धुल जाते हैं; पाप तो दीखते नहीं, अतः उनके दृश्य प्रतीक के रूप में जिन वस्त्रों से स्नान किया जाता है उन्हें कुंड पर ही छोड़ देने की प्रथा है। इस सरल उपाय से यात्री अपने पाप वहीं छोड़ कर चले आ सकते हैं! यायावर जब गया तब तो कुंड पर सन्नाटा था, पर संक्रान्ति आदि के स्नानों पर जब भीड़ लगती है, तब मुमुक्षुओं से अधिक उत्साह उन के पाप-मोचन के लिए वहाँ जुटे हुए मिश्मी स्त्री-पुरुष दिखाते हैं। मुमुक्षु नहा कर निकले-न-निकले कि मुक्ति-पथ के ये सहायक उस की धोती-गमछा-लँगोट जो कुछ हो खींच लेते हैं, और कभी-कभी मुमुक्षु को उस परम निष्पाप अवस्था में ही अपने सूखे कपड़ों तक जाना पड़ता है। इस का विरोध सम्भव नहीं है, यही रीति चली आयी है। और सभ्य मुमुक्षुओं के पाप का बोझा इस प्रतीक के द्वारा ढोने का अधिकार सदा से असभ्य उपत्यका-वासी मिश्मियों का रहा है। विकसित नागरिक सभ्यता के पापों का बोझ अविकसित वन्य जातियों द्वारा ढोया जाता है। इस सत्य का यह रीति स्वयं कितना अर्थ-पूर्ण प्रतीक है, इस की ओर कदाचित् दोनों ही पक्षों का ध्यान कभी नहीं जाता होगा!

ट्रक तक पहुँचते-न-पहुँचते दिन छिप गया। गाड़ी का डायनेमो चार्ज नहीं करता, अतः बत्ती तो जलायी न जायगी, अँधेरे में ही गाड़ी चलाना होगा। जितनी जल्दी हो सके, जंगल का पहला बहुत घना और कीचड़ वाला खंड पार कर लिया जाय, उस के बाद पक्की सड़क पर रुक कर कहीं चाय बनायी जायगी और फिर चाँद उठ आने पर आगे बढ़ा जायगा...

जंगल पार हो लिया गया। बीच में कहीं-कहीं मोड़ों पर रास्ते से थोड़ा भटक कर फिर उलटा लौट कर पथ खोजना पड़ा, किन्तु विशेष असुविधा न हुई।

पक्की सड़क पर आ कर जल्दी-जल्दी चाय पी गयी। चाँद निकल आया, और रास्ता तथा वन्य प्रदेश कुछ साफ़ दीखने लगा, पर गाड़ी चलाते ही हल्की-सी धुन्ध छाने लगी और दीखना असम्भव हो गया।

धीरे-धीरे चलते रहे। आधा रास्ता तय हो चुका था, और कुछ मील जा कर होलोगाँव आयेगा जहाँ अमरीकी ठिया है और पास ही जंगलों के विभाग का बँगला...

हठात् स्टियरिंग लड़खड़ाया और एक शब्द हुआ, जिस की हिन्दी अभिधा 'धड़ाम' से बँगला के ध्वन्यनुसारी 'फटाश्' में कहीं अधिक सजीवता है। पंक्चर! यायावर ने पहले स्टियरिंग सँभाल कर फिर ब्रेक लगा दिये, गाड़ी रुक गयी।

पहिया देखा गया। अन्धकार में औज़ार निकाल कर टटोले गये; जैक को धुरी के नीचे रखा गया! जैक नीचा था, नीचे ज़मीन भी पोली थी, उसे जमाने लिए पत्थर की ज़रूरत होगी। यायावर ने कुन्दनसिंह को पत्थर ढूँढ़ लाने के लिए कहा, और स्वयं स्पैनर ले कर नये पहिये को खोलने लगा।

नया पहिया पंक्चर वाले पहिये के साथ टिका दिया गया। ढिबरियों को एक-एक चक्कर घुमा कर नरम कर लिया गया; अब धुरी उठे तो पहिया खोला जाय। पर कुन्दनसिंह का कोई पता नहीं। यायावर ने थोड़ी प्रतीक्षा की, फिर भुनभुनाते हुए जा कर स्वयं पत्थर ढूँढ़ने लगा। पत्थर ले कर लौटा, तब अभी कुन्दनसिंह का कोई चिह्न नहीं था। यायावर ने पत्थर जमा कर जैक उठाया, और पहिये की ढिबरियाँ खोलने लगा। स्पैनर के एक-एक चक्कर के साथ-साथ उस का पारा एक-एक डिगरी चढ़ता जा रहा था।

सब ढिबरियाँ खोल कर जब पहिया गिराया गया तब अपने बड़े फ़ौजी बूटों को ढबर-ढबर बजाता हुआ दो पत्थर उठाये कुन्दनसिंह धुन्ध में से अवतीर्ण हुआ। यायावर ने दाँत पीस कर कहा, "मिल गये तुम्हें पत्थर?"

उजड्ड का मुस्कान परमास्त्र है, वह मुस्कान जो स्पष्ट बता देती है कि जब मुझ में अपना दोष समझने की ही बुद्धि नहीं तब आप का क्रोध कैसे समझूँ।

वही मुस्कान कुन्दनसिंह के चेहरे पर थी। खीसें काढ़ कर बोला, "जी, ज़रा ठहर गया था।"

यायावर और भी क्रुद्ध स्वर में कुछ कहने ही जा रहा था कि कुन्दनसिंह ने वैसे ही कहा, "ज़रा साँप लड़ गया था।"

यायावर अवाक्। साँप काट गया! 'गया' नहीं, 'गया था'! वह भी 'ज़रा'! थोड़ी देर बाद उसे ध्यान हुआ कि इतनी देर में उसने कुछ कहा ही नहीं है; कुछ कहना ज़रूरी है। पर कहे क्या इस आदमी को? अपनी असमर्थता पर ग़ुस्सा ही उसके प्रश्न में प्रकट हुआ, "साँप मर गया कि नहीं?"

इस प्रश्न का अर्थ कुन्दनसिंह की बुद्धि के स्पष्टतया बाहर था। उसने अचकचा कर कहा, "जी?"

"तुम को जिस साँप ने काटा, वह मर गया कि नहीं? कम-से-कम दाँत तो टूट गये होंगे?" कहता हुआ यायावर भी उठा। ट्रंक में से पेटी खोल, माचिस, मोमबत्ती, दवा का बक्स आदि निकाल कर कुन्दनसिंह की टाँग देखने पर मालूम हुआ कि साँप ने जीन की पैंट के ऊपर से काटा था, दाँत हल्के लगे। चाकू से निशान ज़रा खोल कर उस में दवा मल दी गयी, फिर पहिया फ़िट कर के गाड़ी चली। रात बारह बजे के लगभग कुंडिल नदी पार कर के थोड़ी देर में सदिया पहुँच गये। सर्किट हाउस में जो तेल का लैम्प जल रहा था, उस की दीप्ति ऐसी लगी, मानों कभी उतना प्रकाश न देखा हो। साथ ही उस 'ठीक-ठिकाने' कमरे में दिन भर के जंगल के दृश्य मानों स्वप्न की तरह खो गये—वैसे ही बहिष्कृत हो गये जैसे फ़िरंगी पोलिटिकल एजेंटों के दफ़्तरों से वनवासी फ़रियादी ताड़ित कर दिये जाते होंगे।

लेकिन यायावर के मन में जो जंगल की पुकार गूँजती है, उसे सर्किट हाउस के कमरे की दीवार नहीं रोक सकती...

सदिया का प्रदेश कामरूप के इतिहास के कई स्मारक अपने गहन वनों में छिपाये है। कुछ की झाँकी जब-तब मिलती रही है, कुछ कभी देखे जा सकते थे लेकिन अब बिल्कुल ही लुप्त हो गये हैं। सदिया भी प्राचीन 'सुटिया' राज्य का अवशेष है, जो स्वयं कदाचित् महाभारतकालीन राजा भीष्मक के वंश के ह्रास के बाद खड़ा हुआ था। प्राचीन इतिहास की शोध में यहाँ जाना अनावश्यक है, किन्तु सदिया की व्युत्पत्ति मनोरंजक है।

कथा है कि भीष्मक का एक वंशधर वीरपाल (अथवा वीरबर) सोनागिरि का राजा था। उस की रानी रूपवती ने पुत्रलाभ के लिए कुवेर की स्तुति की। कुवेर एक दिन उस के पति का रूप धारण कर रूपवती के पास आये। रूपवती ने उन्हें नहीं पहचाना और उन के साथ रमण किया। अनन्तर वीरपाल को कुवेर ने स्वप्न में दर्शन दे कर आदेश किया कि एक वृक्ष विशेष के नीचे जा कर देखे, वहाँ जो कुछ उसे मिले उसे पूज्य मान कर ग्रहण करे। वीरपाल वृक्ष के नीचे गया; वहाँ उसे एक तलवार, एक ढाल, और ढाल से ढकी हुई एक सोने की बिल्ली मिली। कालान्तर में रूपवती ने पुत्र प्रसव किया जिस का नाम गौरीनारायण रखा गया। यही कुवेर-पुत्र गौरीनारायण वीरपाल के बाद राजा हुआ और रत्नध्वज पाल के विरुद् से प्रसिद्ध हुआ। असमीया भाषा की एक बुरंजी (हस्तलिखित इतिहास ग्रन्थ) से विदित होता है कि उसने शक सं० ११४६ (ईसवी १२४४) में राज्य ग्रहण किया।

रत्नध्वज ने राजा भद्रसेन को परास्त कर के एक नया नगर बसाया जिस का नाम रत्नपुर रखा। उस के पराक्रम ने उस के राज्य का बहुत विस्तार किया। बुरंजी के अनुसार बंगाल के सुलतान जलालुद्दीन मसूद मलिक जानी से उसने मैत्री स्थापित की और सुलतान ने उसे समय-समय पर गंगाजल भेजना स्वीकार किया और बदले में परशुराम कुंड का पानी चाहा!

रत्नध्वज का एक पुत्र उस समय बंगाल में गौड़ेश्वर राजा के पास शिक्षा के लिए रहता था। इस कुमार की बंगाल में ही मृत्यु हो गयी। सुटिया राजाओं की दाह-संस्कार विधि से अनभिज्ञ होने के कारण गौड़ेश्वर

ने कुमार का शव उसके पिता के पास भेजने का निश्चय किया। रत्नध्वज तब लुहित के तट पर सिन्धुक्षेत्र में एक नया महल बनवा रहा था। यहीं सिन्धुक्षेत्र में कुमार का शव उसे दिया गया, और इसी घटना के कारण उस स्थान का नाम स-दिया (जहाँ शव दिया गया) पड़ गया। तब से यही नाम प्रचलित है।

वर्तमान देवरिया सुटिया जाति के लोग अपने को क्षत्रिय बताते हैं। संभव है कि 'सुटिया' भी 'क्षत्रिय' से बना हो। जो हो, उन की भाषा में हिन्दी-संस्कृत शब्द प्रभूत हैं, और बुरंजी में लिखा है कि जब सुटिया बर्मा से असम आये तब केवल उन्हीं के पास लिपि थी, जिस से सिद्ध होता है कि यह जाति साक्षर और संस्कृत थी। अब भी देवरिया जाति उच्च जाति मानी जाती है और उन के घरों में हर कोई प्रवेश भी नहीं पा सकता।

सुटिया राजा तान्त्रिक थे, और उन के बनवाये हुए ताम्रेश्वरी देवी के मन्दिर के अवशिष्ट अब भी सदिया के उत्तर में पाये जाते हैं। सन् १८४८ में एक अंग्रेज यात्री ने यह मन्दिर देखा था; उस का ताँबे का कलश तब टूट कर अलग पड़ा हुआ था। अब यह प्रदेश जंगल ने लील लिया है। अनुमान किया जाता है कि पहले ब्रह्मपुत्र की धारा यहीं बहती थी, उस का पाट क्रमशः दक्षिण को हटता गया और जल दुर्लभ होने से उत्तरी प्रदेश उजड़ते गये। कालान्तर में अहोम आक्रमणों से परास्त होने पर सुटियों का वैभव मिट ही गया, तब ये उत्तरी प्रदेश जंगल के आक्रमण को भी न रोक सके और डूब गये। असम में अन्यत्र कई स्थानों पर ऐसा हुआ है।[2]

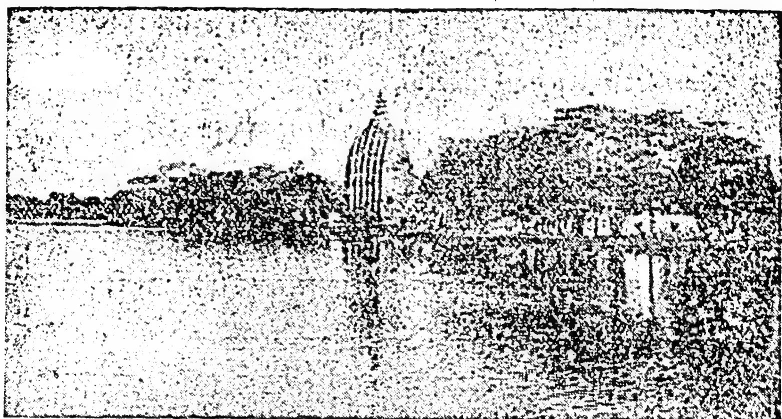
* * * *

गाड़ी तिनसुकिया तक नहीं पहुँची। डुमडुमा से कुछ आगे बैटरी की शक्ति समाप्त हो गयी, एंजिन बन्द हो गया। डायनेमो में सफ़ाई

---

२. सन् १९५० के भूकम्प से लुहित और सदिया के निकट उससे मिलनेवाली डि-हांग की धाराओं में अनेक परिवर्तन हुए हैं। जिस शृंग के कारण ब्रह्मपुत्र में वह आवर्त्त बना था जो परशुराम कुंड था, वह शृंग भी धँस गया है; कुंड अब नहीं है! —ले०

आदि कर के जो काम-चलाऊ प्रयोग किये जा सकते थे, किये गये, पर व्यर्थ। अन्त में एक अमरीकी ट्रक के पीछे जुत कर घिसटते हुए तिनसुकिया पहुँचे, जहाँ तीन-चार दिन गाड़ी ठीक-ठाक कराने में लग गये।



शिवसागर

तिनसुकिया रेल का जंकशन है। यहाँ से एक लाइन तो सीधी सैखुआ घाट चली गयी है, एक और पूर्व को मुड़ कर डिगबई के तैलक्षेत्र को पार कर के मारगरिटा और लेडो जाती है जहाँ से बर्मा-चीन वाली सड़क का आरम्भ होता है। प्रस्तुत प्रसंग में उस क्षेत्र का वर्णन अनावश्यक है।

यों तो यह यात्रा विशेष यहाँ से आगे अप्रासंगिक हो जाती, क्योंकि तिनसुकिया से डिब्रूगढ़ लौटकर यायावर ने अपना कार्यसूत्र फिर पकड़ा, और जैसे तरुवासी एक प्रकार की मकड़ी अपने झूलते सूत्र के सहारे पेड़ पर चढ़ जाती है और फिर झूलती है, वैसे ही उस के सहारे क्रमशः अपने केन्द्र शिलङ जा पहुँचा जहाँ से फिर नया अभियान आरम्भ हुआ। किन्तु एकाधिक किश्तों में ही सही, परशुराम कुंड से उत्तर-पश्चिम की यात्रा धीरे-धीरे अग्रसर होती ही रही, और यहाँ दफ्तर आदि गौण बातों को छोड़ कर भटकने के मुख्य विषय को ही लिये रहना अभीष्ट है।

शिवसागर।

बँगला में स, श, ष, सब का जैसे 'श' उच्चारण होता है, वैसे असमीया में सब 'ह' हो जाते हैं। इसी लिए 'शिवसागर' भी 'हिवहागर' उच्चारित होता है (यद्यपि अंग्रेज़ी लेखन-उच्चारण 'सिबसागर' के प्रभाव से वैसा उच्चारण असमीयों में भी बढ़ता रहा है)। यह बस्ती एक बड़े ताल के किनारे बसी है, जो अहोम राजत्वकाल में बना था, और इसलिए एक अचरज माना जाता है कि उस का तल आसपास के प्रदेश से लगभग तीस फुट ऊँचा है, फिर भी ताल सदा भरा रहता है—बल्कि उस का तल भी लगभग एक-सा रहता है। इसी सागर के किनारे तीन मन्दिर हैं, और यहाँ से जोरहाट के रास्ते पर रुद्रसागर और जयसागर के किनारे और मन्दिर और महल भी। शिवसिंह और रुद्रसिंह प्रतापी अहोम राजा थे, और जयमती एक वीर नारी जिस का नाम असम का बच्चा-बच्चा जानता है और जिस का चरित असमीयों को उत्कट देश-प्रेम का पाठ सिखाता है!

जोरहाट—नवगाँव—गौहाटी। गौहाटी वास्तव में 'गुवा हाटी' है—असमीया गुवारी (गुवाफल) की प्रसिद्ध प्राचीन हाट। यह असमीया कामरूप राज्य की राजधानी और प्रमुख व्यापार केन्द्र तो रही ही; इसके अतिरिक्त नीलाचल पर स्थित कामाख्या देवी के मन्दिर के कारण इस की कीर्ति और भी फैली। असमीया लोग तो निराकारोपासक वैष्णव हैं; पर कामाख्य के दर्शन के लिए हजारों बंगाली प्रति वर्ष आते हैं। दर्शनार्थियों को देख कर पंडों का जो झुंड उन पर टूटता है, वह बंगला शब्दों की ध्वनि पड़ते ही ततैयों की तरह मुखर उत्साह प्रदर्शित करने लगता है, किन्तु अन्य भाषाओं को सुन कर अप्रतिभ हो कर प्रायः कहता है, 'अरे एरा तो बाँगाली नय!'—अरे ये तो बंगाली नहीं है! और असमीया भाषा सुन कर तो पंडावृन्द वैसा ही श्रीहत हो जाता है जैसे प्रभात के समय का छोटा उल्लू।

❀ ❀ ❀

मध्य-असम से पंजाब

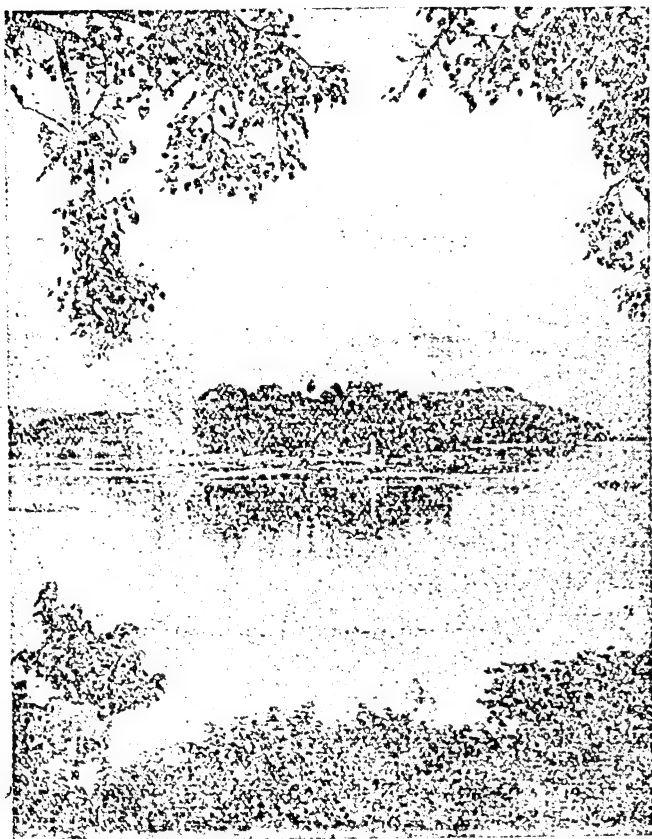
यायावर को आज्ञा मिली कि पाँच गाड़ियों का 'कानवाई' ले कर असम से पंजाब जाय—असम से उस को छोटी-सी टोली को स्थानान्तरित किया जा रहा था और भविष्य में उस का कार्य-क्षेत्र पंजाब और सीमाप्रान्त में होगा……

यों तो तैयारियाँ सभी तरह की होती हैं, पर उन में 'कानवाई' की तैयारी का एक विशिष्ट स्थान होता है—ठीक वैसे, जैसे बुखारों में जूड़ी-बुखार का। इतना कह कर उस के विशद वर्णन को छोड़ देना चाहिए—क्योंकि आखिर तो वह तैयारी ही है न, स्वयं अभियान तो नहीं।

अप्रैल के एक गीले दिन भोर होते ही 'लाद चला बनजारा'। अभी झुट-पुटा था, वर्षा के कारण और भी फीका। यायावर का मन स्तब्ध था। उसके लिए सब रैन-बसेरे हैं, कहीं यात्रान्त तो है ही नहीं, इस लिए कहीं से चलने पर उदास होना निरर्थक है; किन्तु किसी किसी पड़ाव पर जो शान्ति और स्नेह मिल जाता है, उस का आकर्षण तो बना ही रहता है...रहे, मगर राह पर आज जो मिला, उसे आज की लब्धि नहीं, कल का पाथेय मानना होगा, और चलना होगा...चल यायावर, चल! 'जहाँ भी कोई चला जावे, वहीं कोई हरी-भरी पहाड़ी मिल जायगी!' कल का पाथेय मिला है तो कृतज्ञ हो, प्रणाम कर, और आगे बढ़!

शिलङ के पहले उतार की चीड़ की घाटियों से निकल कर बड़ा-पानी नदी पार करके जब खुली हरियाली की पहाड़ियों में बजरी की सड़क लहराने लगी, तब कहीं जा कर यायावर का मन चेता, और चेत कर आगे को उन्मुख हो गया। गौहाटी पार कर के नीलाचल की

छाया में होते हुए 'कानवाई' पलाशबाड़ी जा निकला, जो असमीया रेशम की बड़ी मंडी है; और फिर दाहिने को ब्रह्मपुत्र और बायें को खसिया



गौहाटी में ब्रह्मपुत्र का दृश्य
(सामने उर्वशी स्तम्भ और उमानन्द भैरव का द्वीप)

पर्वत से लगी हुई गारो पर्वत-श्रेणी रखते हुए बढ़ कर ग्वालपाड़ा जा

रुका। यहीं से कुछ आगे जोगी गुफा का घाट है, जहाँ नाव पर लाद कर गाड़ियाँ ब्रह्मपुत्र के पार उतारी जायँगी और कूचविहार का रास्ता पकड़ेंगी। रात ग्वालपाड़े में ब्रह्मपुत्र के किनारे एक टीले पर बने हुए बँगले में काटी, और सवेरे जोगीगुफा के घाट पर जा पहुँचे। जोगीगुफा नाम का इतिहास है। आस-पास का वन-प्रदेश तान्त्रिकों की साधना का क्षेत्र था और यहाँ उनकी अनेक गुफाएँ हैं। यह भी प्रसिद्धि है कि तेरहवीं शती के आरम्भ में जब तुर्कों ने विहार से बढ़ कर कामरूप पर आक्रमण किया, तब इन्हीं गुफाओं में रहनेवाले तान्त्रिकों के अभिचार से उनकी पराजय हुई। इस प्रसिद्धि की ऐतिहासिकता का कोई दावा नहीं। इतना अवश्य है कि ब्रह्मपुत्र के दाहिने तट पर बसी तत्कालीन राजधानी पर अधिकार कर के जब मलिक उज़्बक नद की बाढ़ से बचने के लिए बायें किनारे की पहाड़ियों से लगे-लगे नदी के प्रवाह की ओर उतरने लगा, तब गारो पहाड़ियों की तलहटियों में ही उसकी सेना भटक गयी। तुर्क इतिहासकार मिनहज ने मलिक उज़्बक के अभियान का वर्णन करते हुए लिखा है कि 'देश में कृषि की उन्नत और सम्पन्न अवस्था देख कर मलिक उज़्बक ने अन्न भर रखना आवश्यक नहीं समझा था। जब चैत की कटनी का समय आया तब राजा और सारी प्रजा ने विद्रोह कर दिया और सब बाँध खोल दिये। मलिक उज़्बक और उसकी सेना असमर्थ हो गयी और भूखों मरने लगी। तब उसने पीछे हटने का निश्चय किया।...समतल प्रदेश में पानी भरा था, और हिन्दू बसते थे, (अतः) मुसलमानों ने एक पथदर्शक को ले कर पहाड़ों की तलहटी से हो कर जाने की सोची। किन्तु कुछ पड़ाव जा कर वे सँकरी पगडंडियों और घाटियों में खो गये। सहसा सामने और पीछे हिन्दुओं ने आक्रमण किया। एक तंग घाटी में सामने हाथियों की लड़ाई हुई; मुसलमान सेना के पैर उखड़ गये और हिन्दू-मुसलमान गुत्थमगुत्था हो गये। तभी हाथी पर सवार मलिक उज़्बक के तीर लगा, वह गिरा और बन्दी कर लिया गया। फिर उसके परिवार के सब लोग और सारी सेना बन्दी कर ली

गयी।' यह 'दुर्घटना' चाहे तान्त्रिकों के प्रताप से हुई हो चाहे नहीं, इस में संदेह नहीं कि घाटी में से जाती हुई सेना पर आक्रमग आसपास की पहाड़ियों की गुफाओं से बड़ी सफलता के साथ किया जा सकता है, और सम्भवतया किया गया होगा, तभी तो उज़्बक की सेना 'सहसा' आगे-पीछे से आक्रान्त हो कर परास्त हो गयी होगी।

जोगीगुफा से नद पार कर के एक रास्ता धुबड़ी हो कर कलकत्ते का है, किन्तु यह अच्छा नहीं है; और 'कानवाई' अच्छी सड़कों पर ही चलते हैं जब तक कि लाचारी न हो, इस लिए कूचबिहार की सड़क पकड़ी गयी। तीसरे पहर तक 'कानवाई' कूचबिहार की सीमा में प्रविष्ट हो गया था; कूचबिहार पहुँचा जा सकता था, किन्तु रात में बड़े शहर में ठहरने की जगह का कष्ट हो सकता है यह सब यायावर जानते हैं। अतः कुछ पहले ही दीनहट्टा के छोटे सफ़री बँगले के आगे गाड़ियाँ रोक दी गयीं। बँगला तो बाँसों का बना हुआ 'बासा' ही था और कमरों में जगह भी नहीं थी, पर बरामदे के कच्चे फ़र्श पर बाँस की चटाइयाँ बिछीं थीं, और चारों तरफ खुला बगीचा भी था; रात काटने के लिए और क्या चाहिए? इधर प्रायः दिन छिपे ही हाट बैठती है, दीनहट्टा का बाजार अभी उठा नहीं था, केले, शाक-तरकारी, अंडे आदि बिक रहे थे...

सवेरे कूचबिहार से गुजरे। छोटी-सी सुन्दर नगरी है। नाम वास्तव में कोचबिहार होना चाहिए, क्योंकि कोच जाति की राजधानी है। किसी समय कोच साम्राज्य बहुत फैला हुआ था और उस की धाक दूर-दूर तक थी। कोच राजवंश में कई प्रतापी राजा हुए जिन में नरनारायण (ई० सोलहवीं शती) सर्व-प्रसिद्ध है। नरनारायण तथा उस के भाई एवं प्रधान सेनापति शुक्लध्वज ने आसाम पर आक्रमण कर के बहुत-सा प्रदेश जीत लिया था। शुक्लध्वज के दूर-दूर जा कर झपट्टा मारने के करतबों के कारण उस का नाम 'चील राय' पड़ गया था। एक दूसरे भाई कमल गोहाई (गोसाईं) ने उत्तरी आसाम के आर-पार वह सड़क बनवायी थी जिस के

अवशेष कुछ वर्ष पहले तक मिलते थे और जो कूचबिहार से सदिया तक जाती थी। अब यह सड़क दुर्गम जंगल में खो गयी है और उस प्रदेश में कोई सड़क रही ही नहीं। सदिया जाने के लिए ब्रह्मपुत्र पार कर के बायें किनारे से जाना पड़ता है। और सैखुआ में फिर दाहिनी पार जाते हैं।

नरनारायण और उस के भाइयों ने काशी में शिक्षा पायी थी। राजा होने पर नरनारायण के विद्याप्रेम की कीर्ति फैलने लगी और दूर-दूर से विद्वान् उस की सभा में आने लगे। कोच राजवंश तो सनातन मतावलम्बी था; किन्तु नरनारायण की कीर्ति सुन बंगाल के स्मार्त आचार्य रघुनन्दन भट्टाचार्य भी वहाँ पहुँचे। भट्टाचार्य महोदय शास्त्रार्थ-प्रवीण थे, और बंगाल, बिहार, उड़ीसा के बहुत से पंडितों को पटकी दे चुके थे। उन का सहज स्मार्त मत इस भू-भाग में बहुत प्रचलित भी हो गया था। कोच राज-सभा में समादृत होने पर कोच साम्राज्य भी उन का अनुयायी हो जायगा, इस की उन्हें पूरी आशा थी। दैवात् कोच राज-पुरोहित सार्वभौम भट्टाचार्य का देहान्त कुछ ही मास पहले हो चुका था, इस लिए विरोध की कोई आशंका भी न थी।

किन्तु सार्वभौम की विधवा ने राज-सभा में कहला भेजा कि दिवंगत पति की प्रतिष्ठा के लिए वही स्मार्त आचार्य से शास्त्रार्थ करेगी। राजा ने तदनुसार शास्त्रार्थ का दिन और समय नियत कर दिया, और राज्य के विद्वानों को निमन्त्रण भेज दिये गये।

एक विधवा की इतनी स्पर्धा! रघुनन्दन पंडित ने इस बाधा को क्षुद्र माना। स्त्री से राज-सभा में शास्त्रार्थ करने में समय क्यों नष्ट किया जाय, यह सोच कर नियत दिन से पहले दिन वे स्वयं ब्राह्मणी के घर पर पहुँचे। यहीं पर निर्णय हो जाय, सभा उन के निर्विरोध आधिपत्य की साक्षी होगी!

ब्राह्मणी को उन्होंने बड़े धैर्य के साथ अपनी स्मार्त अनुष्ठान-पद्धति समझायी। स्मार्त पद्धति न केवल सहज और बोध-गम्य है, वरन् वही एकमात्र ठीक पद्धति है, इस मत का प्रतिपादन जब वे कर चुके, तब विधवा ने पूछा, 'आचार्य जो पद्धति बता रहे हैं, उस से भिन्न अनुष्ठान मान्य

होंगे या नहीं, और प्राचीन मतानुसार दीक्षित ब्राह्मण कुलीन ब्राह्मण माना जायगा या नहीं ?' रघुनन्दन ने निश्शंक भाव से कहा, 'नहीं, ऐसे अनुष्ठान मान्य नहीं होंगे, और प्राचीन मतानुसार दीक्षा पानेवाला ब्राह्मण भ्रष्ट होगा ।'

ब्राह्मणी ने पूछा, 'अच्छा तो ऐसे ब्राह्मण का विधान क्या मान्य होगा ?'

रघुनन्दन पंडित ने बहुत से प्रमाण दे कर सिद्ध किया कि ऐसे भ्रष्ट ब्राह्मण का विधान स्पष्टतया अमान्य है।

तब सार्वभौम की विधवा तनिक मुस्करायी। बोली, 'आचार्य के माता-पिता का विवाह तो आचार्य की अनुष्ठान-पद्धति के अनुसार न हुआ होगा ? उन के पिता की दीक्षा भी प्राचीन पद्धति के अनुसार हा हुई होगी ? तो भ्रष्ट-कुलोत्पन्न ब्राह्मण का मत क्या मान्य समझा जायगा ?'

अगले दिन जब राज-सभा में शास्त्रार्थ आरम्भ करने का समय आया, तो रघुनन्दन भट्टाचार्य कहीं न दीखे।

कोच साम्राज्य का प्रसार मणिपुर तक हुआ था—कम से कम मणिपुर, जयन्ती, त्रिपुरा आदि के राजा कोच सम्राट् को वार्षिक कर तो देते ही थे। नरनारायण ने कामाख्या के मन्दिर का पुनर्निर्माण काराया था। कुछ ही काल पीछे कालापहाड़ ने आ कर मन्दिर का ध्वंस किया, किन्तु उस के (चाहे उड़ीसा के विद्रोह के कारण, चाहे नरनारायण और अहोम राज्य के नये सैन्य संग्रह से डर कर) चले जाने पर मन्दिर फिर बनवाया गया और नरनारायण तथा चील राय ने उस की प्रतिष्ठा की। इस आशय का एक प्रस्तर लेख भी कामाख्या के मन्दिर में है, जिस का समय शक १४८७ दिया है।

❀ ❀ ❀ ❀

कूचबिहार से सिलिगुड़ी का मार्ग जब 'द्वार प्रदेश' से गुज़रता है तब उस की शोभा अनूठी हो जाती है। इस अंचल में हिमालय के बाहर 'द्वार' हैं; इन्हीं द्वारों से भोटिये, नेपाली, तिब्बती और पर्वतीय नाना जातियों के लोग भारत में आते-जाते थे—कुछ तीर्थ करने, कुछ व्यापारी, कुछ भू-लोलुप, कुछ यशाकांक्षी, कुछ लुटेरे...द्वार प्रदेश में अब भी

कई स्थलों पर भोट मेले लगते हैं। चाय के बगानों की इस प्रदेश में भरमार है, ज्यों-ज्यों पथ पश्चिम जो दार्जीलिङ्ग पर्वत-मूल की ओर बढ़ता है, त्यों-त्यों चाय के नपे-छँटे, बने-सँवरे पौधों के पीछे हिमालय की नयी-नयी हिमाच्छादित चोटियों का भव्यतर रूप सामने आता-जाता है। उस दृश्य के अनिर्वचनीय सौन्दर्य को वही जान सकता है, जो बार-बार उस की अलंकार-निरपेक्ष भव्यता का अकस्मात् थप्पड़-सा खा कर लड़खड़ाया हो और फिर सँभला हो...और जिसने वैसे थपेड़े नहीं खाये, वह उस कवि हृदय में पैठ कर उसके सत्य को अपना भी नहीं सकता जिस की अनुभूति ने वाणी पा कर कहा होगा—

हिरण्यगर्भः समवर्ततताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत् ।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतो मा कस्मै देवाय हविषा विधेम ॥

द्वार प्रदेश का एक केन्द्र है अलीपुर द्वार। वहाँ से आगे ओंके-बाँके रास्ते पार करते यायावर का टँडीरा तिस्ता नदी के पुल की ओर बढ़ा। इस दुर्दम नदी पर स्थायी पुल बनाने के लिए सड़क बहुत ऊँची चढ़ी है, और पुल न केवल एक दर्शनीय स्थल है वरन् इंजिनियरी विद्या का एक बड़ा करिश्मा भी है। पुल कंकरीट का है, आसपास दोनों ओर कुछ मील तक सड़क भी कंकरीट की बनायी गयी है कि वर्षा में जब-तब वह न जाय। पुल से ही एक रास्ता कलिम्पोङ् के लिए अलग हो जाता है। 'कानवाई' बड़ी सावधानी से मोड़ और चढ़ाव-उतार लाँघता हुआ पुल पार कर के दिन छिपते सिलिगुड़ी जा पहुँचा। बस्ती से दो मील पहले ही एक खुले मैदान में सैकड़ों फ़ौजी गाड़ियाँ खड़ी थीं—यही चलन्तू कैम्प था। वहीं यायावर का 'कानवाई' भी एक तरफ़ करीने से जा खड़ा हुआ, सब ने उतर कर टाँगें सीधी कीं और फिर कुछ खाने-पीने की खोज में निकले।

यों सिलिगुड़ी से पूर्णिमा को रास्ता जाता है, और वहाँ से कटिहार हो कर फिर कहीं स्टीमर से गंगा पार की जा सकती है। इधर से एक नयी फ़ौजी सड़क बनी थी जो 'असम एप्रोच रोड' कहलाती थी और जो पार्श्वनाथ के पास 'ग्रांड ट्रंक रोड' में जा मिलती थी। किन्तु इस

सड़क की अवस्था के बारे में जो कुछ पता चला था उस के आधार पर यही निश्चय किया गया कि सिलिगुड़ी से ट्रेन में लद कर कलकत्ते जाया जाय, और वहाँ से फिर सड़क पकड़ी जाय। अतः डेढ़ दिन की दौड़-धूप के बाद वैसी ही व्यवस्था कर ली गयी। एक फ़ौजी मालगाड़ी तीसरी रात को छूटने वाली थी; सवेरे ही 'कानवाई' की मोटरों को रेल-ठेलों पर लाद दिया गया। पूरी मालगाड़ी केवल मोटरें ले जाने वाले ठेलों की थी—आगे आठ-दस गाड़ियाँ एम्बुलेंस की लदी थीं, फिर एक अमरीकी टोली जिस में दो-तीन 'जीप' और आठ-दस बड़े ट्रक थे और चालकों में कुछ गोरे अमरीकी और बाकी नीग्रो। सवार होते ही गोरों ने ग्रामोफ़ोन पर भड़भड़ाते जैज़ नाचों के तवे चढ़ा दिये थे और नीग्रो ने बैंजो टुन टुना कर गाना और हँसना शुरू किया था। आकर्ण आँखों की बात कवियों में बहुत चलती है, असल में आकर्ण तो हँसी होती है जो नीग्रो हँसता है। बहुत ही स्वच्छ आकाश में जैसे दूज-तीज को चाँद के उजले बंक के ऊपर कभी-कभी झाँसा हुआ-सा पूरा चाँद भी दीखता है, वैसे ही हँसते नीग्रो चेहरे में दाँतों की पाँती चमकती है। इन के बाद यायावार की टोली, फिर कुछ गोरे फ़ौजी कुछ ट्रकों के साथ, एक-आध आहत टैंक, और फिर सैकड़ों छोटी-बड़ी टूटी-जुड़ी लथपथ गाड़ियाँ—जिन में प्रायः केवल ड्राइवर ही ड्राइवर थे।

रात ग्यारह के आस-पास बहुत देर तक गड़गड़ाने और हिचकियाँ लेने के बाद गाड़ी चल पड़ी। खुले ठेले थे, गर्मी का मौसम; ट्रक की पीठ से सटा कर सँकरी खाट लगा कर यायावर लेट गया और तारे देखने लगा। एंजिन के कोयले बालों में भरने लगे। गाड़ी की गति बढ़ी तो सब कपड़े इतनी ज़ोर से फड़फड़ाने लगे कि नींद असम्भव थी; और चाल धीमी पड़ती तो मच्छर बोटियाँ नोचने लगते। हवा के कारण मसहरी नहीं लग सकती थी···दिन-भर मनाया था कि रात हो तो गाड़ी चले, स्टेशन यार्ड की भीड़ में से निकल कर सोचा जाय; रात-भर मनाते बीती कि सवेरा हो तो मच्छरों से निस्तार हो!

दिन हुआ। यायावर ने सोचा कि अब कहीं गाड़ी खड़ी होगी तो मुँह-हाथ धो कर कुछ खाने की सोची जायगी, पर गाड़ी खड़ी होती तो छोटे स्टेशन पर, या बड़े स्टेशन के पास पहुँचती हुई, पर स्टेशन से एक-डेढ़ मील बाहर ही ! सुराही में थोड़ा-सा पानी रखा गया था, उसी से काम चलाया गया। चाय के लिए स्टोव जलाना असम्भव था—इतनी आड़ नहीं थी, और खड़ी गाड़ी में जलाते तो पानी खौलने से पहले गाड़ी चल पड़ती ! अमरीकियों की देखादेखी एंजिन से तामचीनी के मग में गर्म पानी ले कर उसी में चाय की पत्ती, और डिब्बे का दूध मिलाया; चाय में किसी चीज का स्वाद था तो धुँए का···

दिन भर टाँट सिकती रही। काश कि बदली घिर आती। मिन्नतों के बाद शाम हुई और बादल घिरने लगे। थोड़ी देर में वर्षा आरम्भ हो गयी। फिर कुछ देर बाद मूसल बरसने लगे। माल-पत्तर सब ट्रकों में लाद दिया गया था—आशा थी कि रात में ही कभी बैरकपुर पहुँच जायँगे जहाँ उतर कर कैम्प में रात रहना होगा। भीगते-भीगते यायावर को उस जाट की कहानी याद आयी जो गभिन घोड़ी को हाँकता हुआ चला जा रहा था; थक कर सोचने लगा कि कहीं एक घोड़ा होता तो क्यों उसे घोड़ी हाँकते पैदल चलना पड़ता। राह में ही घोड़ी ब्या गयी। जाट ने बछेरे को कंधे पर लादा और फिर चला, तब लम्बी साँस ले कर खुदा की ओर मुखातिब हो कर बोला, "वाह रे सखी-सर्वरा, तेरी उल्टी अकल की बलिहारी—माँगा था नीचे, दे दिया ऊपर !"

बैरकपुर पहुँचे। अर्थात् बैरकपुर के पास कहीं घुप-अँधेरे में एक साइडिंग पर गाड़ी लगा दी गयी। जहाँ भी हो, रेल से उतरना तो है ही —और जो पीछे हैं, वे क्या सामने वाले को सोचने का मौका देंगे ? जल्दी-जल्दी ट्रक उतारे गये। नीचे पक्की धरती तो है, जो होगा सो होगा, बरसने दो मूसल !

तभी एक जीप 'कानवाइ' के पास आ कर रुकी, और फ़ौजी पुलिस के दो सार्जेण्ट उतरे। यायावर के आने की खबर कैम्प को थी, वहाँ रहने-

खाने का प्रबन्ध है और वे दोनों मार्ग दिखावेंगे—कैम्प कोई चार मील है।

तो सखी-सर्वरा कभी-कभी नीचे माँगने पर नीचे भी देता है! अलहम्दुलिल्लाह!

* * * *

अँधेरे और वृष्टि में कोई ट्रक भटक न जाय, इस विचार से सब गाड़ियों को आगे रख कर अन्तिम गाड़ी यायावर ने अपनी रखी। अगले ड्राइवर को कहा गया कि वह जीप के पीछे हो ले और उसे आँखों-ओट न होने दे।

टाँडा फिर चला। एक मील, दो मील, तीन मील, चार मील—अब तो कैम्प पास ही होगा। 'कानवाई' मुड़ा—क्या आ गये? पाँच मील। फिर मोड़—यह होगा। शायद बड़े मैदान में कैम्प हो। छः मील। सात मील। आठ मील। नौ मील···दस—दसवें मील में हठात् 'कानवाई' रुक गया। सन्नाटा—केवल किरमिच पर मूसलधार वृष्टि का शब्द, टपा-टप-टप, ढबाढब-ढब!

यायावर लाइन तोड कर आगे गया। अगली गाड़ी का ड्राइवर निश्चल बैठा था; सामने जीप नहीं थी।

"क्या हुआ?"

"जीप गाड़ी तो खो गिया, सा' ब!"

"कैसे खो गया? तुम्हारा ध्यान किधर था?"

"आप बोला था गाड़ी का पीछू लाल बत्ती देखते रहने को। हम देखा लेकिन फिन् वो अँधेरा में गुम हो गया। फिर हम सोचा आगे मिलेगा। लेकिन इधर रास्ता बन् है।"

अब? अब कहीं बढ़ना तो और भटक जाना होगा, उचित यही है कि यहीं पर प्रतीक्षा की जाय। जीप स्वयं खोजने आयेगी अवश्य...

डेढ़ घंटे बाद वह आयी। गोराशाही भाषा में यों बहुत से शब्द ऐसे होते हैं जिन्हें कोशकार जानते ही नहीं; कुछ ऐसे होते हैं जिन्हें वे

शायद ईर्ष्यावश कोश में नहीं देते कि बाकी कोश फीका न जान पड़ने लगे ! ऐसे ही चाशनीदार बहुत से शब्द ड्राइवर पर उड़ेल कर सार्जेण्टों ने यायावर को 'कानवाई' लौटवाने को कहा, और सुझाया कि अब की यायावर स्वयं आगे रहे ताकि अनुसरण ठीक हो सके। वैसा ही किया गया। रात साढ़े बारह बजे कैम्प के भीतर घुसे। रास्ते एक-एक फुट पानी के नीचे थे; बाँसों के फ़र्श कीचड़ हो रहे थे। खाना जो रखा गया था सो न जाने क्या हुआ क्योंकि लगर वाले तो अब सो गये थे। एक बारक ख़ाली पड़ी थी, उसी में कुछ बाँसों से पटे तख़्त भी थे।

खाना न सही, गीले कपड़े बदल कर पीठ तो सीधी की जाय, यायावर यह सोच ही रहा था कि सूचना मिली, 'कानवाई' की पिछली, गाड़ी नहीं आयी है।

यायावर की गाड़ी फिर बाहर निकली—अकेली। जो गाड़ी रह गयी थी, उस का नेपाली ड्राइवर यथेष्ट मूर्ख था—अतः जहाँ उसने जाना होगा कि वह भटक गया, वहीं रुक तो गया होगा, पर उस के बाद भी गाड़ी के साथ हो रहेगा इसका भरोसा नहीं था। कहीं पास चिलम में साझा हो सकता हो या चाय के ही एक कुल्हड़ की आशा हो, तो वह गाड़ी छोड़ कर चल देगा। और कहीं कलवारी की गन्ध आसपास मिल गयी तो बस...

कैम्प से स्टेशन तक दो चक्कर लगे। गाड़ी का पता न मिला। तीसरे चक्कर में रास्ता छोड़ कर इधर-उधर के मोड़ों की ओर गलियों की खोज की गयी। यायावर लगभग निराश हो चला था कि एक अहाते के बाहर एक बड़ी गाडी के पीछे एक छुटका ट्रक दीखा जिस की रेखाकृति कुछ पहचानी-सी लगी। रुक कर देखा, अनुमान ठीक था। ड्राइवर ने हताश हो कर सो जाने का निश्चय किया था, पर जैसे लद्दू घोड़े को दूसरे घोड़े की पूँछ के अतिरिक्त और क्षितिज स्वीकार्य नहीं होता, वैसे ही 'कानवाई' ड्राइवर भी दूसरे ट्रक के पीछे ट्रक सटा कर ही चैन की साँस

ले सकता है···ड्राइवर का मुँह खुला था, और खर्राटे एंजिन के चलते होने का भ्रम उपजा सकते थे···

तीन बजे थोड़ी-सी भूखी और बिलकुल सीली हुई नींद मिली—किन्तु जो भी मिले वही बहुत; और फिर सवेरे तो कलकत्ते जाया जा सकेगा, और दो-एक मित्रों से मिल कर और चीनी भोजन कर के लौटा जा सकेगा—आगे तो अगले दिन चलना है···

* * * *

यहाँ पर टायर को थोड़ी देर चुप हो जाना चाहिए। टायर के 'वात-प्रकृति' होने में तो सन्देह हो ही नहीं सकता—ठोस टायरों का युग तो गया—पर उसे भी जब-तब साँस लेनी ही पड़ती है! किन्तु कहने का क्रम न टूटे, इस लिए कलकत्ते से आगे की यात्रा का संक्षित वर्णन यायावर की डायरी से लिया जाय :

'प्रातः काल चल कर 'विलिंगडन ब्रिज' द्वारा हुगली पार कर के उत्तरपाड़ा ओर वर्द्धमान (बर्दवान) होते हुए आसनसोल पहुँचे। आसनसोल में एक खुले मैदान के बीच में कैम्प था, वहीं एक 'बासे' में रात काटी। सबेरे स्टेशन जा कर नाश्ता किया और चल पड़े।'

'आसनसोल से बढ़ी—११० मील। राह की एक ओर पार्श्वनाथ गिरि को छोड़ा। बढ़ी में भी मैदान में कैम्प है—यद्यपि यहाँ व्यवस्था और अच्छी है। कैंटीन भी है, जहाँ से डिब्बे का सामान मिल जाता है। यहीं का ठेकेदार खाना भी खिला देता है—दाल का सूप, उबाल कर भूने हुए आलू और अंडे, चावल, तरकारी, और कुछ मीठा—प्रायः पके केले को मसल कर बनाई हुई मीठी बड़ी। सप्ताह में दो दिन खुले में सिनेमा भी दिखाया जाता है—पर हमारा दिन वह नहीं था। इस समय कैम्प भी लगभग खाली है, तम्बू में आराम है। थोड़ी-सी चाँदनी में इस तनिक-से ढाल वाले मैदान का विस्तार बड़ा अच्छा लगता है।'

'वढ़ी से बढ़े, पर गया नहीं गये; डेहरी-सोन का रेल का पुल पार कर के अलीनगर पहुँचे। अलीनगर का बँगला मुगलसराय स्टेशन से दो मील पहले पड़ता है। बनारस जाया जा सकता था, पर रास्ते में नाव का पुल पड़ता है, जिस पर न जाने ट्रक जा सकें या नहीं, न गये तो रेल के पुल से पार करना होगा और घंटों लगेंगे। फिर रात को शहर में पहुँचने का आतंक तो है ही, और कानवाई ले कर दोस्तों के यहाँ नहीं जाया जा सकता। रात में छावनी में भटकें, फिर सफ़री कैम्प का पता लगावें, फिर वहाँ जगह मिले न मिले—यह उजाड़ बँगला ही अच्छा है...'

'बनारस-इलाहाबाद। इलाहाबाद में भी कानवाई ठहराने की जगह नहीं थी, और दौड़ भी छोटी रह जाती, अतः पचीस-एक मील और जा कर मूरतगंज के बँगले में अड्डा जमाया। खासा बड़ा बँगला है, साफ़-सुथरा। ठहरने के लिए एक्ज़ेक्यूटिव इंजीनियर की अनुमति तो चाहिए, पर वह ठहर जाने के बाद भी ली जा सकती है—दरख़्वास्त लिख कर चौकीदार को दे दी है!'

'कानपुर। स्टेशन पर भोजन किया। गर्मी बहुत थी, साढ़े चार बजे तक वेटिंग रूम में पड़े रहे। फिर चालीस मील और जा कर बिल्हौर में रात काटी। इस अंश में इतनी बैलगाड़ियाँ मिलीं कि गाड़ी हाँकने का सारा उत्साह ठंडा पड़ गया! बिल्हौर के छोटे से बँगले में जा रुके।'

'निश्चय था कि आगरा होते हुए जाना होगा। इस लिए नहीं कि ताज-महल के पास से निकलेंगे, इस लिए कि भारतीय सैन्य संगठन का मध्यवर्ती कैम्प आगरा है। कानवाई कलकत्ते से पूर्वी 'कमान' के अवधान में चला था, आगरे में उसे केन्द्रीय कमान के अवधान में आ कर आगे उत्तरी कमान की सीमा में जाने की सूचना देनी होगी। एतमादुद्दौला के नीचे धूल उड़ रही थी—वहाँ भीतर नहीं गये। ताजमहल के सदर फाटक से घुस कर एक बार बाहरी फाटक से ही ताज को झाँक कर ताजगंज की तरफ़ की हरियाली में बैठ कर जलपान किया, ज़रा बढ कर मियाँ नज़ीर की उपेक्षित क़ब्र देखी और बचपन में बड़े उत्साह से कंठस्थ की हुई उन की नज़्म के कुछ बन्द याद किये—

ऐसा था बाँसुरी के बजैया का बालपन
वो मधुपुरी नगर के बसैया का बालपन !
ज़ाहिर में गो वो नन्द यशोदा के आप थे
वर्ना वो आपि' माइ थे वा आपि' बाप थे ।

'सुना है कि जब कवि ताजगंज से गधा हाँकते निकलते थे कि मदरसे जा कर लड़कों को पढ़ा आवें, तब रास्ते में इतनी जगह लोग उन्हें रोक-रोक कर उन से दो-चार बन्द सुना के जाने का सफल आग्रह करते थे कि नज़ीर मियाँ को गोकुलपुरे में अपने मदरसे पहुँचते-पहुँचते साँझ हो जाती थी, और वह लड़कों को छुट्टी दे कर फिर रुकते-चलते रात तक घर पहुँच जाते थे। एक वह दिन था, जब कविता का स्वाभाविक उद्रेक राह चलते को खींचता था और फक्कड़ कवियों की बानी सीधे लोक-हृदय में पैठ जाती थी; एक हमारा दिन है कि ट्रक हांकते धूल उड़ाते चले जा रहे हैं, हर पोखरे में ढील फेंकते हैं और हर झमेले में टाँग अड़ाते हैं क्योंकि "जीवन की धारा के बीचोबीच रहना कलाकार का धर्म है", किन्तु फिर भी उस लोक-हृदय के आस-पास भी नहीं फटकते जो वास्तव में जीवन का मूल-स्रोत है ! क्योंकि जीवन का स्रोत घटना का स्रोत नहीं है, वह चेतना का स्रोत है। हमारी कविता बानी नहीं रही, लिखतम हो गयी है; हृदय से हृदय तक नहीं जाती वरन् एक मस्तिष्क की शिक्षा-दीक्षा के संस्कारों की नली से हो कर कागद पर ढाली जाती है जहाँ से एक दूसरा मस्तिष्क अपने संस्कारों की नली से उसे फिर खींचता है ।...

'केन्द्रीय कमान में हाज़री दी, और एक बार आगरे में कानवाई कैम्प की सूरत देख कर कम-से-कम मथुरा जा रहने का निश्चय किया। सिकन्दरा छोड़ कर रुनकुता के पास कुछ मिनट रुके, सड़क छोड़ कर जमुना किनारे वह स्थल देखा जहाँ कभी सूरदास रहते थे और जहाँ अब उस स्थान को चिह्नित करनेवाली कुछ बजरी भर पड़ी है, जिस के पास एक और कोठरी और देवस्थान बन गया है—क्योंकि बिना मूर्त प्रतीक के श्रद्धा विकेन्द्रित हो जाती है !

'मथुरा का बँगला भरा था, अतः और आगे जाने की ठानी। कानवाई को चाय-पानी करने को कहा और लगे-हाथ वृन्दावन को छू आये। वहाँ मालूम हुआ कि तीन रुपये छः आने दे कर मन्दिर में अमुक सेर धूप-दीप का प्रबन्ध हो सकता है और बाईस रुपये दस आने दे कर मन्दिर की सीढ़ी पर नाम खुदाया जा सकता है—और स्वर्ग के इन पहले और तीसरे दर्जों के टिकटों के अलावा ड्यौढ़े-दूसरे के भी मिलते हैं। इतना ही नहीं, बिना टिकट लिये अन्य मन्दिर देखे भी नहीं जा सकते। स्वर्ग की रेल में कभी बैठने की जगह मिलेगी, जिसे यही भरोसा नहीं, वह टिकट क्या खरीदता? अतः केवल गोविन्ददेव का मन्दिर देख कर—जिस में मूर्त्ति की प्रतिष्ठा नहीं हुई किन्तु जो वास्तुकला की दृष्टि से सर्वाधिक सुन्दर है—लौट आये। कुछ आगे छाता नाम का स्थान मिला, जहाँ एक किले के नीचे छोटी बँगलिया थी—वहीं डेरा डाला।'

'नयी दिल्ली...सब की वह भाभी, जो कि गरीब की जोरू नहीं है! जिस की मुस्कान की अपेक्षा सब को है, लेकिन जिस से ठठोली करने की हिम्मत किसी को नहीं होती!

'पुरानी दिल्ली। किंग्सवे; वह स्थान जहाँ कभी सम्राट् का अभिषेक हुआ था, और अब तपेदिक का अस्पताल है—ठीक है, साम्राज्य को घुन खा चुका है, अब नया युग आता है!

'सोनीपत।'

'समलखा। नहर विभाग का बँगला। रात...'

दूसरे दिन कानवाई पानीपत-कुरुक्षेत्र-अम्बाला होता हुआ जालन्धर पहुँच गया। यहीं तक उसे पहुँचना था—यहाँ केन्द्र था, जहाँ से नया दायित्व ले कर यायावर को फिर आगे बढ़ना था। यहाँ शहर से चार मील दूर सुनसान के बीच एक बगिया में यायावर ने डेरा डाला। पहले दिन उस का नाम रखा 'चौमीला बाग' क्योंकि बाग के फाटक पर ही चौथे मील का पत्थर था। दो-तीन दिन बाद जब साइकल पर दो-तीन बार शहर के फेरे कर समझ लिया कि बस्ती का अन्तिम चिह्न पीछे छोड़

कर जब खुले निस्सीम की सीमा पर पहुँचे तब जा कर कहीं डेरे के लक्षण दीखते हैं, तब उस का नाम बदल कर कर दिया गया 'द लिमिट' —सीमान्त! फिर कुछ दिन बाद, जब बगिया के चारों कोनों पर अमलतास के वृक्ष फूलों से लद कर ऐसे दीप्त हो उठे कि बगिया में चारों कोनों के अतिरिक्त कुछ मानों दीखता ही नहीं, तब यायावर ने उस का नाम फिर बदल दिया और अब रखा 'अमलतासी'···और यही नाम सब से मधुर लगा, और पीछे इतना सजीव हो आया कि अब भी उस का मन पीछे देखता है तो अमलतासी को ही याद करता है। क्यों, यह बताने के लिए जो भाषा चाहिये, वह यायावर के पास नहीं है, इस फटीचर टायर के पास तो होगी कहाँ, जो

'घूम गया जो चक्र, उसी की ओर देखता जाता हूँ···'

पश्चिम—खैबर

युद्ध समाप्त हुए कुछ महीने हो चुके। लोकतन्त्रवाद की जो गाड़ी चीखती-चरमराती धीरे-धीरे गति पकड़ कर ज़रा ढंग से चलने लगी थी, वह मंज़िल पर पहुँच गयी तो ब्रेक लगा कर उसे थमाने की समस्या सामने आयी—तेज़ घूमते चक्र पर ब्रेक लगाने से स्फुलिंग निकलते हैं और उस से गाड़ी भी भक् से उड़ जा सकती है।...चलती गाड़ी में पहियों की धुरी में तेल डालना ज़रूरी है, तो ब्रेक कसने पर पहिये के हाल पर पानी डालना भी उतना ही ज़रूरी! युद्धोत्तर पुनःसंस्थापन और पुनर्निर्माण के कार्य का महत्त्व बढ़ा, विभाग और योजनायें बनीं, शिक्षण केन्द्र खुले...दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह के एक दिन यायावर को सूचना मिली कि उसे सीमाप्रदेश का दौरा करना होगा। वह प्रदेश उपेक्षित-सा रहा है, और उस का महत्त्व बहुत है, (और वहाँ और कोई जाने को राज़ी नहीं है, ख़ास कर इस जाड़े में!) और यायावर केन्द्र में रहने की अपेक्षा दौरे पसन्द भी करता है, (केन्द्र को इस बात का

ध्यान असम में बरसात-कीचड़ के दिनों में, पंजाब में बैसाख-जेठ में, और सीमाप्रान्त के लिए पौष में ही क्यों आता रहा, यह एक केन्द्रीय रहस्य है!) इस लिए उस पर विशेष अनुग्रह कर के यह दायित्व उसे सौंपा जा रहा है। बल्कि वह युद्ध शेष होते ही सैनिक नौकरी छोड़ने का अपना दुराग्रह छोड़ दे, तो उस की पदवृद्धि कर के उसे वहाँ का विभागीय अधिकारी भी नियुक्त किया जा सकता है।

जो हो। कारणों में जा कर क्या होगा? शान्तिकालीन सैनिक बने रहने की विडम्बना तो नहीं सहनी है, और धमनियों का यायावर रक्त सीमा-रेखाओं के दुर्दम आकर्षण से नाच-नाच उठता ही है—पश्चिमोत्तर सीमान्त भी सही, पौष-माघ ही सही:

विश्वमय हे परिवर्तन!
तुम्हारी ही विधि पर विश्वास
हमारा चिर-आश्वास!
हे अनन्त हृत्कम्प! तुम्हारा अविरत स्पन्दन
सृष्टि-शिराओं में संचारित करता जीवन;
खोल जगत के शत-शत नक्षत्रों से लोचन,
भेदन करते अन्धकार तुम जग का क्षण-क्षण
सत्य तुम्हारी राज्य-यष्टि, सम्मुख नत त्रिभुवन,
भूप, अकिंचन,
अटल शास्ति नित करते पालन![3]

वही अटल शास्ति जहाँ ले चले...

निकोलिस रोयरिक का एक चित्र है जिसके कोने में एक प्रवत्स्यत् अश्वारोही मुड़ कर पीछे देख रहा है और पीछे एक छोटा कुटीर-सा घर है और उस के पीछे भव्य पहाड़...चित्र का नाम है 'याद रखना!'

३. सुमित्रानन्दन पन्त।

किन्तु जिस की दृष्टि ने पहाड़ सर्वदा आगे ही देखा है, और जिस की कल्पना ने 'घर' नाम से चित्रित किया है क्षितिज के पास कहीं बनी एक मड़िया को जिसे जब-तब प्रमादी झोंके वैसे ही छिन्न-भिन्न कर डालते हैं जैसे स्कूल से भागा हुआ शरीर लड़का पेड़ों पर चढ़ कर पखेरुओं के घोंसले गिराया करता है—वह क्या रखेगा याद ?

पहली जनवरी को तड़के ही 'अमलतासी' से विदा ली ! प्रभात का अहेरी जब तक आलोक का फन्दा सँभाल कर मीनार को फाँसे, तब तक यायावर कर्तारपुर के गुरुद्वारे से निकल चुका था। अहेरी की ढिलाई देख कर गुरुद्वारे के स्वर्ण-कलश तनिक से मुस्करा भर दिये थे...

अमृतसर—उत्तर भारत की सब से बड़ी व्यापारी मंडी, जहाँ अब पहले के मिठबोले ताँगेवाले नहीं रहे, और ढीली पगड़ी, ढीले केस, ढीले तम्बे और बहुत ही ढीली ज़ुबानवाले सिख बस-ड्राइवरों की भरमार हो गयी है; लेकिन जहाँ की खत्रानियाँ पहले जिस सर्राटे से तिल्लई जूतियाँ चटकारती चलती थीं उसी से अब नयी-नयी काट के सैंडल चटकारती हैं। जलियाँवाला, दरबार साहब,—ये नाम हैं जिन का इतिहास भी है और गहरे संस्कार भी—लेकिन ये संस्कार घड़ी की कमानी जैसे नहीं जो हर वक्त चलती रहे, एलार्म की कमानी जैसे हैं जो ख़ास-ख़ास मौकों पर ही शोर मचा दे...गोविन्दगढ़ किले के पास से जाते हुए यायावर ने याद किये एक और बरस के जाड़े के वे दिन जब वह 'दुर्गियाने का पूँचवासी नारायण पंडित, कमीशन एजेंट' से 'मुहम्मद बक्श बिजली का मिस्त्री' में परिणत हो कर उसी किले की छाया तले रहता था और व्यस्त था कि उस के दल की पिस्तौलों की मरम्मत का गुप्त कारखाना ठीक से स्थापित हो जाय, ताकि ब्रितानी सत्ता की आतंक को दीवार भेदी जा सके। आज भी वह भारत की आज़ादी के लिए कम उत्सुक नहीं है, पर आज वह 'ब्रितानी भारत' की वर्दी पहने है, और आज एक 'शेर मुहम्मद' उस का 'बेरा' है और उसे 'साहब' कहता है ! 'परिवर्तित कर अगणित नूतन-दृश्य निरन्तर, अभिनय करते विश्वमंच पर तुम मायाकर !' किन्तु क्या सचमुच मानव स्वयं कुछ नहीं है, निरा कठपुतला, क्या सचमुच ही

हमारे काम न अपने काम
नहीं हम, जो हम ज्ञात;
अरे निज छाया में उपनाम
छिपे हैं हम अपरूप;
गँवाने आये हैं अज्ञात
गँवा कर पाते स्वीय-स्वरूप![४]

जाड़ों का सवेरा शायद हल्की दार्शनिकता का सहायक होता है—ख़ास कर जब कोई सामने की सीट पर अकेला मोटर हाँक रहा हो, और सड़क सीधी सपाट और वैचित्र्य-विहीन हो। नहीं तो विचार अगर और गहरे जाते, तो शायद कुछ और आगे देख सकते—जब अमृतसर में न मिठबोले ताँगेवाले होंगे, न ढीले सिख, न चटकीली जूतियाँ, न खत्रा-नियाँ—और जब पूँच का नारायण पंडित और बिजलीवाला मुहम्मद बक्श एक नहीं, एक दूसरे के प्राणलेवा होंगे...और जब लाहौर, हिन्दुस्तान के तीन गन्दे शहरों में एक, साहित्यिकों का लाहौर, सैलानियों का लाहौर, लायब्रेरियों का लाहौर, लफंगों का लाहौर, प्रचारकों का लाहौर, पियक्कड़ों का लाहौर, संस्कृतियों का संगमस्थल, हिन्दुस्तान का पैरिस लाहौर, एक अधिक झोंका हुआ आवा हो जायेगा जो एक-एक ईंट को जला कर अब बुझ गया है! संसार में निरर्थक अनेक चीजें होती हैं, लेकिन एक ओर लुढ़की हुई और मोर्चा खायी हुई चिमनीवाले, बुझे हुए और परित्यक्त आवे से अधिक बेमानी दीखनेवाली चीजें कम ही होती होंगी...आवा मरता है तो उस की मिट्टी की जीवनी-शक्ति भी मर जाती है—और फिर, इस से पहले कि उस में दुबारा बीज धारण करने की शक्ति आवे, उस पर न जाने कितने युगों की धूल की परतें पड़ जाती हैं...

तब लाहौर।

नहीं, यायावर, यादों के साथ मत रुको। अभी उन का और संचय करना है। पात्र भरे तभी उड़ेलना, अभी भरने दो—

---

४. सुमित्रानन्दन पन्त

गुजराँवाला, जहाँ रणजीतसिंह ने जन्म लिया और फिर पंचत्व पाया, जहाँ के मालटे (एक प्रकार का सन्तरा) और लोहे की तिजोरियाँ प्रसिद्ध हैं; वज़ीराबाद, जहाँ के छुरी-चाक़ू प्रसिद्ध हैं और जहाँ से स्यालकोट को लाइन जाती है जहाँ के क्रिकेट-टेनिस के बल्ले विख्यात हैं; और फिर गुजरात, जहाँ रैन-बसेरा होगा। दिन भर की दौड़ में पंचनद की तीन नदियाँ पार कर लीं—जालन्धर-अमृतसर के अधबीच व्यास, लाहौर में रावी, गुजरात के निकट चनाब जो इन तीनों में—बल्कि शायद पाँचों नदियों में सब से सुन्दर है। शायद इस लिए, कि सम्भव है सतलज का ऊपरी भाग अधिक सुन्दर हो—वह यायावर का देखा हुआ नहीं। रावी और व्यास के उद्भव तक वह गया है, और रोहतंग घाटी के पार कोकसर से उसने चन्द्रा का भी पहला आवर्त्त देखा है, और तीनों की तथा झेलम की प्रारम्भिक यात्रा के कई पड़ावों तक वह साथ-साथ चला है। लोक-गाथा से भी प्रतीत होता है कि चनाब ही की लहरों में लोक-हृदय ने अपनी सिहरन पहचानी है, उसी के साथ उसका सुख-दुःख, प्यार और दर्द बँधा हुआ है। चनाब के किनारे ही हीर और राँझा, सोहनी और महीवाल का प्यार उपजा, पनपा, फूला और दुर्दैव के विवर में झर गया—लेकिन सारे अंचल पर अपनी स्मृति की छाप छोड़ कर ...अब भी जब लोग डूबती हुई सोहनी के विलाप की गाथा गा कर पढ़ते हैं, तब उसमें ऐसा दर्द गूँज उठता है कि सोहनी का चेहरा मूर्त्त हो आवे और श्रोता उस की हाँप और द्रुतप्रवाहिनी, स्वैर-विलासिनी चन्द्रभागा का कलनाद उस में सुन पावें!

पार झनावीं मझीवाले दा डेरा
सानू वी लै चल पार वड़्या
देखन नूँ दो नैन तरसदे,
मेल मेरा दिलदार वड़्या!

'चनाब के पार मेरे महीवाल का डेरा है, मुझे वहाँ ले चल, बड़े! देखने को नैन तरसते हैं, मुझे दिलदार से मिला दे, ओ बड़े!'

किन्तु बीच नदी में, छल द्वारा बदल कर रखे गये कच्चे घड़े को पानी में खुरता देख कर :

सोहनी घड़े नू आखदी
अज्ज मैंनू पार लँघा, घड़या !
कच्ची मेरी मिट्टी कच्चा मेरा नाम
कच्चयाँ दे हुँदे आख़िर कच्चे अंजाम
कच्चयाँ ते रखिए ना उम्मैद पार दी !
पक्का तैनू देख के मैं पाया हत्थ चे
अद्ध विचधारयाँ गया खुर वे
शकल वेखा है अज्ज महीवाल दी !

'सोहनी घड़े से कहती है, आज मुझे पार पहुँचा दे ! किन्तु घड़े की मिट्टी कच्ची है, कच्चों के अंजाम कच्चे ही होते हैं; उन पर पार लगाने की उम्मीद न रखनी चाहिएँ। तुझे पक्का समझ कर मैंने लिया था, पर तू अधबीच में खुर गया। आज जैसे भी महीवाल की शकल दिखा दे, ओ घड़े !'

पर कहाँ ?

शौह दरया विच नैय्या डोले,
मैं न्याणी की जाणदी साँ,
जान कुठली अज्ज लुटड़ी,
आयी मिलन दी तार घड़या !

'प्रेम नदी में नैया डोलती है। मैं अनजान नहीं जानती थी...अभागे प्राण आज लुट चले—मिलन के क्षण आ गये, ओ घड़े...

लालामूसा से झेलम के पथ में प्राचीन भारत का बहुत-सा इतिहास पड़ा है। पथ के बायीं ओर चिलियाँवाला है, जहाँ सौ वर्ष पहले सिखों ने अँग्रेज़ों से मोर्चा लिया था और उन्हें करारी हार दी थी। इसी युद्ध-क्षेत्र के आसपास कहीं पर उस से भी बाइस सौ बरस पहले का एक और

युद्धक्षेत्र रहा होगा जिस में सिकन्दर और पुरु का युद्ध हुआ था। चिल्लियाँ वाला से आगे, वर्त्तमान रसूल के पास कहीं सिकन्दर ने झेलम पार की होगी।



खारियाँ में पानी से कटी हुई भूमि

खारियाँ के आसपास सड़क अद्भुत ऊबड़-खाबड़ प्रदेश में हो गुज़रती है। यह सारा प्रदेश कभी घक्खड़ जातियों की क्रीड़ास्थली रहा, और भूमि की आकाररेखा देख कर ही समझा जा सकता है कि ये जातियाँ युद्धकुशल, सहनशील, और लड़ाका रही होंगी। पानी से कट-कट कर सारा प्रदेश गलियों-खड्ढों से भर कर मरुभूमि हो गया। दूर पीरपंजाल श्रेणी की हिमाच्छन्न चोटियाँ चमकती हैं। आगे झेलम नदी है, जिस में कश्मीर से बहायी हुई लकड़ी यहाँ बटोरी जाती है।

झेलम से बारह मील दूर कान्ह नदी के कगार पर रोहतास का पहाड़ी दुर्ग है। वर्त्तमान दुर्ग शेरशाह ने बनवाया था, और पठान स्थापत्य का सुन्दर नमूना है। इसी के भीतर राजा मानसिंह का महल है जो काबुल विजय (ई० १५८५) के बाद बनवाया गया था।

दूसरे पड़ाव को अभी देर थी, पर रावलपिंडी से बीस-एक मील आगे सड़क के किनारे एक बोर्ड लगा देख कर जब जाना कि तक्षशिला केवल अढ़ाई मील है, तब स्टियरिंग पर यायावर के हाथ की जकड़ स्वतः कड़ी हो आयी और गाड़ी दायें घूम गयी।

*   *   *   *

यायावर पुराविद् नहीं होते, न पुरातत्त्व उन के लिए स्वयं एक साध्य होता है—वह केवल दूसरों के संचित अनुभव के फल के रूप में महत्त्व रखता है। यह महत्त्व कम नहीं है, और यह कथन पुरातत्त्व की अवज्ञा तो कदापि नहीं है। तक्षशिला, नालन्दा, सारनाथ, ये नाम यायावर के शरीर में पुलक उत्पन्न करते हैं, किन्तु इस लिए नहीं कि ये प्राचीन खँडहरों के नाम हैं, वरन् इस लिए कि ये सांस्कृतिक विकास के—समष्टि के अनुभव पर आधारित जीवन कीं उन्नततर परिपाटियों के आविष्कार के—कीर्ति-स्तम्भ हैं। अन्ततोगत्वा बात एक ही है, किन्तु एक नहीं भी है। भेद आत्यन्तिक वस्तु का नहीं है, केवल दृष्टिकोण का है, वस्तु से व्यक्ति के सम्बन्ध का भेद है।

अस्तु! तक्षशिला के इस वर्णन की प्रामाणिकता का कोई दावा नहीं है। न उसे प्रामाणिक बनाने के लिए विशेष यत्न प्रयोजनीय है, क्योंकि प्रामाणिकता के खोजी तक्षशिला का परिचय इस भटक-पुराण में पढ़ने नहीं आवेंगे।

तक्षशिला के खँडहरों को अच्छी तरह देखने के लिए चार-पाँच दिन का अवकाश तो चाहिए ही, उतना समय ले कर कम देखने वाले वहाँ जाते हैं, और बहुत से तो केवल संग्रहालय में सुरक्षित प्राचीन स्वर्णाभरण देख कर ही तृप्त हो कर चल देते हैं। संग्रहालय तक्षशिला की तीन आबादियों में से सब से प्राचीन बस्ती के खँडहर भीड़ टोपे के पास है। तक्षशिला की दूसरी बसाई के अवशेष तामड़ा नाले के पार सिरकप स्थान में हैं, और तीसरी के कुछ उत्तर-पूर्व को सिरसुख में। पहली बस्ती ई० पू० ५००–६०० की होगी, दूसरी कदाचित् बाख्त्रियों द्वारा निर्मित हुई थी और पीछे शकों के हाथ पड़ी। तीसरी नगरी कुशाग

सम्राट कनिष्क की बसायी हुई है और कई सौ वर्षों तक आबाद रही। य्वान च्वाङ जिस तक्षशिला में आया वह यही थी, और उस ने जिन स्थलों का वर्णन किया है उन की दूरी के संकेत यहीं से हैं।

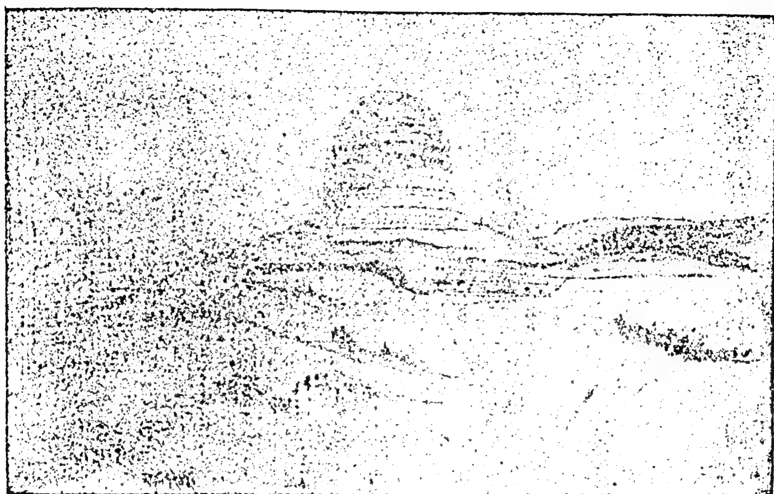
धर्मराजिक स्तूप ('चीर टोपा' क्योंकि पहली खुदाइयों में उसे चीर दिया गया था) कदाचित् अशोक के समय निर्मित हुआ था, और पीछे उस के आसपास अन्य स्तूप और विहारों का निर्माण हुआ। विभिन्न खंड अलग-अलग समय पर बने, और सब की निर्माण शैली अलग-अलग है। टोपे के उत्तरी भाग में बुद्ध की एक विराट् मूर्ति के केवल पैर अवशिष्ट हैं जो पूरी लगभग बीस हाथ की रही होगी।

कुणाल स्तूप उसी स्थान पर बनाया गया बताया जाता है, जहाँ विमाता तिष्यरक्षिता के दुश्चक्र से कुणाल की आँखें फोड दी गयी थीं। दैव की विडम्बना है कि इसी स्थान से समूची नगरी का ओर नीचे की उत्पत्यका और नदी का पूरा दृश्य दीखता है! कदाचित् यहीं पर से तक्षशिला का शासक युवराज कुणाल अपने नगर और प्रदेश प्रेक्षण किया करता होगा, और यहीं पर सम्राट् का मुद्रांकित, साम्राज्ञी का आदेश पा कर उस ने अन्तिम बार आँख भर कर उस सारे रूपान्तर को देख लिया होगा जो तत्कालीन पौर्वात्य कृष्टि का कनक-फल, मानवार्जित सकल ज्ञान के अम्बुधि का कौस्तुभ-मणि था, और फिर आँखें मीच ली होंगी कि साम्राज्ञी की वासना का अन्धकार उन्हें छा ले, ग्रस ले...

कुणाल स्तूप से लगभग पाँच मील, भल्लड़ स्तूप है, जिस के साथ के विहार में सौत्रान्तिक कुमारलब्ध ने वास किया था।

सिरकप के खँडहर कई युगों के अवशेष हैं जिन का ब्यौरा अन्यत्र मिल सकता है। इसी के उत्तर को जंडियाल में एक यवन मन्दिर के अवशेष दर्शनीय हैं जो शायद शक सूर्योपासकों ने बनाया होगा।

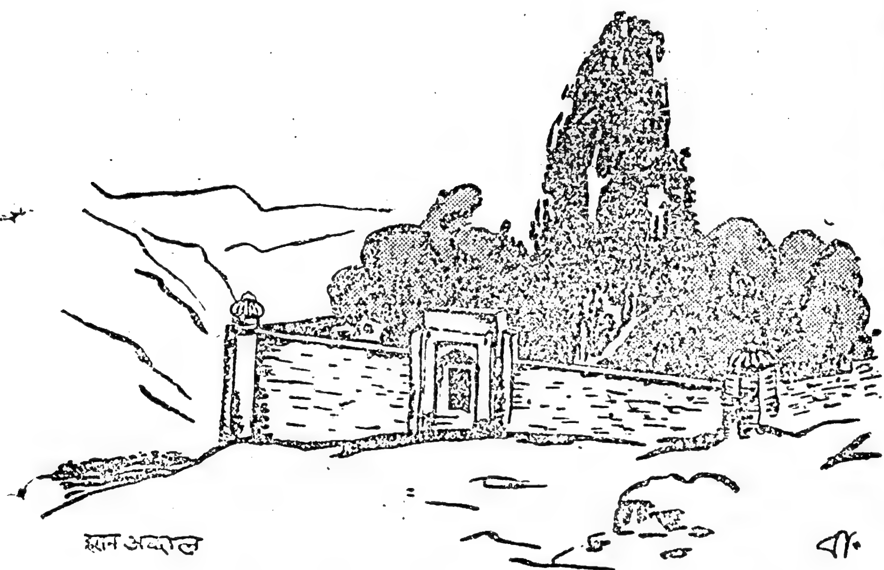
जौलियाँ और मोहरा मुरादू के बौद्ध विहार और स्तूप उत्तरी भारत के अन्य बौद्ध अवशेषों की अपेक्षा कहीं अच्छी अवस्था में हैं; और दर्शनीय हैं।



भल्लड़ स्तूप, तक्षशिला

किन्तु साँझ हो आयी थी, और हिसाब से अभी साठ-एक मील और आगे जाना चाहिए था। यायावर ने फिर बड़ी सड़क पकड़ी। किन्तु जाड़ा बढ़ने लगा, और कुहरा भी घना हो आया, तब दस ही मील जा कर हसन अब्दाल के बँगले में डेरा जमा दिया। यहाँ से ग्रांड ट्रंक सड़क सीधी अटक-पेशावर चली जाती है, और एक सड़क मुड़ कर एबटाबाद हो कर कश्मीर जाती है। हसन अब्दाल में ही सिखों का तीर्थस्थान 'पंजा साहब' है, जो मुसलमानों के अनुसार 'बाबा वली का चश्मा' है। सिख गाथा का एक रूप यह है कि गुरु नानक ने वहाँ पर बाबा वली नामक मुस्लिम पीर से पानी माँगा तो बाबा वली ने उन्हें डाँट दिया और उन पर पत्थर फेंका। गुरु नानक ने उस पत्थर को हाथ पर लिया और उन के स्पर्श से उसी में पानी का सोता फूट निकला। कुंड के एक छोर पर एक पत्थर पर पंजे का निशान अब भी दिखाया जाता है और इसी से 'पंजा साहब' नाम पड़ा है। तथ्य जो भी रहा हो, कुंड विभिन्न समयों

पर बौद्धों, हिन्दुओं, मुसलमानों और सिद्धों के अधिकार में रहा, और प्रत्येक ने उसे तीर्थ का गौरव दिया। सूखे प्रदेश में कोई भी सोता पुण्यस्रोत होता है—तीर्थ जो जल का पर्याप्त है वह क्या यों ही? और जहाँ संस्कृतियों का संघर्ष अथवा संगम हुआ है वहाँ स्थानिक प्रसिद्धियों का भी परिपाक बराबर होता रहा है; नहीं तो क्या अटक के नीचे सिन्ध नद के पार व्याकरणकार शालातुरीय पाणिनि के गाँव के लोग आज के दर्शक को इतने गौरव के साथ बतला सकते कि उन का गाँव 'पीर शालातूरा' का गाँव है!



हसन अब्दाल के पास ही पहाड़ पर 'वाह' नाम का स्थान है, जिस का वर्तमान गौरव उस के सिमेंट के कारखाने से है, किन्तु जिस का नामकरण अकबर ने अजाने ही कर दिया था—उस स्थान का सौन्दर्य देख कर वह कह उठा था, 'वाह! वाह!' अकबर का बनवाया हुआ बाग इस घटना

का स्मारक है। अब यह टिवाणा ख़ानदान के सरदारों की सम्पत्ति है।

हसन अब्दाल से ग्रांड ट्रंक रोड पेशावर-लंडीकोतल जाती है और खैबर का पथ वही है। किन्तु सीमान्त के रास्ते और भी हैं, और सब का अपना-अपना आकर्षण है। हसन अब्दाल से ही एक सड़क एबटाबाद जाती है जो हज़ारा ज़िले का केन्द्र है, और जहाँ से दुमेल हो कर कश्मीर जाते हैं। फिर अटक से आगे नौशहरा (नौशेरा) से काबुल नदी पार कर के होती-मर्दान, तख़्त-बहाई और मलकंड जहाँ से स्वात नदी की उपत्यका आरम्भ होती है। फिर पेशावर से इधर चारसदा (या मर्दान से सीधे चारसदा हो कर पेशावर जा सकते हैं) और उधर कोहाट का दर्रा पार कर के कोहाट। दर्रा खैबर तो जाना ही है, पर सीधा चल के कौन कहीं पहुँचा है, और पहुँच ही गया तो बड़ाई क्या! ढाई घर को तुरंग-चाल ही यायावरों की चाल है, और ध्येय की ओर बढ़ते हुए भी इन पारिपार्श्विक आकर्षणों या विकर्षणों के प्रति आँखें न बन्द करनी होंगी। फिर सारे प्रदेश का दौरा करने का सरकारी ध्येय सीमान्त को छूने के निजी ध्येय के आड़े पड़ता है!

एबटाबाद की सब से स्पष्ट स्मृति है वहाँ के जंगली नरगिस। रात सर्किट हाउस में विश्राम कर के प्रातःकाल यायावर जब बाहर टहलने निकला, तो बिखरती धुन्ध से छनी हुई किरणों के प्रकाश में देखा, रूखी धरती पर कड़े जमे हुए कुहरे की पपड़ियों के बीच में उमगते हठीले नालों पर नरगिस फूल रहे थे—सारा ढलान उन से छाया हुआ था और दूर पेड़ों के झुरमुट के भीतर तक फूल ही फूल दीख रहे थे—और उस के आगे धुन्ध की दीवार। और उन की असंख्य चकित आँखें नीचे जमी बर्फ़ को निहार रही थीं, मानों अपलक विस्मय से कि यह कठोर भूमि ही इस रूपश्री की जननी है। उर्दू-फ़ारसी शायरी में नरगिस प्रेमी की आँख का उपमान है—'नरगिस की आँख से तुझे देखा करे कोई।' नाम भी नरगिस

लड़कियों का होता है—नरगिस का फूल उतना ही स्पष्टतया स्त्रैण है जितना कि—गेंदे का फूल मर्दाना ! यूनानी न जाने क्यों चूक गये—वैसी प्रकृति-प्रेमी और प्रतीक स्रष्टा जाति से यह भूल न होनी चाहिए थी ! यद्यपि यह भी है कि नारसिसस जैसा अपने ही रूप पर मोहित होनेवाला युवक बहुत ही जनाना मर्द रहा होगा ।

सारा पहाड़ नरगिसों से छाया हुआ था । तीसरे पहर पहाड़ के शिखर पर चढ़ते समय भी राह में अनेक स्थलों पर नरगिस मिले । शिखर चीड़ वृक्षों से छाया हुआ था, किन्तु ऊपर पहुँच कर वहाँ से पामीर और मनकियाल की हिममंडित गिरिश्रृंखलाएँ दीखीं । सामने ही काबुल की छावनी थी, जिस के नीचे कई गुरुद्वारे और ज़ियारतें बिखरी हुई हैं । एबटाबाद से ही एक रास्ता मानसेहरा को जाता है, जो मुजफ्फ़राबाद-दुमेल की सड़क पर पहला ठिकाना है । मानसेहरा में तब भी कुछ उपद्रव की खिचड़ी पक रही थी, यह यायावर को पता चल गया था, पर दो ही वर्ष बाद वह इतना विकट रूप लेगी यह अनुमान वह न कर सका था । मानसेहरा से ही कबाइलियों के आक्रमण मुजफ्फ़राबाद और वहाँ से दुमेल में किशनगंगा-झेलम को पार कर के उड़ी-बारामूला पहुँचे ! मुजफ्फ़-राबाद की शान्त स्वतःसम्पूर्ण बस्ती, जिस के लोग तीसरे पहर नीचे उतर कर हठीली किशनगंगा में नहाते थे—इस पार सहज गम्भीर पुरुष, जो नहा कर किसी पत्थर पर बैठ कर बंसरी बजाया करते थे; उस पार स्त्रियाँ जो हाथ से पानी उछाल कर किलकारियाँ मारती थीं और फिर चट्टानों की ओर अपने काले पैरहनों की ओट बैठ कर धूप में देह और बाल सुखाया करती थीं—मुज़फ्फ़राबाद जो आज जल कर राख हो चुका है, जिस के बंसरी वाले मारे गये हैं और किलकारने वालियाँ लुट गयी हैं···तब यायावर को यह सब नहीं दीखा, यद्यपि एबटाबाद की सड़कों पर लारियाँ भर-भर जाते हुए सब्ज कुरती वाले दलों के 'ले के रहेंगे पाकिस्तान' 'लड़ के लेंगे पाकिस्तान', और जवाब में सिख जलसों के 'जो बोले सो निहाल—सतसिरी अकाल' आदि नारों से इतना तो अनुमान हुआ था कि इस प्रदेश में उपद्रव के पौधे पनप रहे हैं और फल देंगे···

४

यायावर ने तभी अपनी डायरी में लिखा भी था कि 'मेरी कल्पना देखती है, इन नरगिसों को हज़ारों पैर रौंद रहे हैं, बेदर्द और बेरहम पैर—और फूलों की डाँठों के टूटने की आवाज वातावरण में नारों की गूँज में डूब जाती है···सिनेमा का प्रतीक-चित्र-सा सामने आता है—बर्फ में झूमते नरगिस, रौंदते हुए पैर, केवल पैर—

हरिपुर हज़ारा हो कर फिर हसन अब्दाल में ग्रांड ट्रंक सड़क पकड़ी। हरिपुर की कीर्ति वहाँ का जेल है—सीमाप्रान्त का सब से बड़ा सेंट्रल जेल। यों यहाँ मालटा सन्तरे के बगीचे भी बहुत हैं। यहाँ के लोगों ने यायावर का नाम ठीक न समझ कर उसे 'वाहिद हुसैन' कहना आरम्भ किया, और यहाँ से आगे सीमान्त की यात्रा में वह प्रायः ही 'कप्तान वाहिद हुसैन' के नाम से जाना जाता रहा !

अटक का भव्य दुर्ग सिन्धु के बायें तट पर बना है, और कुछ आगे ही सिन्धु का पुल है। ऐसे स्थल पर बना है जहाँ दोनों ओर पहाड़ की बाँहियाँ बढ़ आने से सिन्धु का पाट बहुत सँकरा हो गया है; पुल के नीचे नद का प्रवाह तीव्र है और जब पानी चढ़ता है तो साठ हाथ तक चढ़ आता है—पुल साधारण तल से पैंसठ हाथ की ऊँचाई पर बना है। पुल से नीचे नद का पाट दूर तक सँकरा चला जाता है, और चट्टानी भुजाओं से घिरी हुई नद की शुभ्र-नील हलचल दर्शक की आँखों को जैसे मोह लेती है। अटक से नौका द्वारा खुशहालगढ़ तक जाया जा सकता है जो कैम्बेलपुर-कोहाट के बीच पड़ता है। यह 'पनघाटी' ('गॉर्ज' के लिए यह शब्द गढ़ लेना क्षम्य समझा जाय) अपने ढंग की अनूठी है और नर्मदा के भेड़ाघाट से कम भव्य नहीं है, यद्यपि इसका सौन्दर्य बिल्कुल दूसरे प्रकार का है।

अटक दुर्ग का दृश्य बहुत ही प्रभावोत्पादक है, यद्यपि विमान और अणु बम के इस युग में उस का सैनिक महत्त्व नगण्य हो गया है। पश्चिम

से जहाँ काबुल नदी सिन्धु में आ कर मिलती है, उस के नीचे ही दुर्ग स्थित है, और दुर्ग के उत्तरी भाग से न केवल सिन्धु की दून का मीलों तक का दृश्य दीखता है वरन् काबुल नदी का भी। दोनों दूनों की दूरी जिस क्षितिज में जा मिटती है, उस पर हिमशृंगों की झालर-सी टँकी दीखती है—ये सफेद कोह और पामीर शृंखला की चोटियाँ हैं।

किले के नीचे ही घाट है, जहाँ से नावें पार जाती हैं। इस घाट के ऊपर ही एक पत्थर के पुराने पुल के स्तम्भ दीखते हैं। ये काबुल नदी के संगम के निकट ही हैं जहाँ कि सिन्धु का पाट उथला और चौड़ा है। इस पुल का इतिहास यायावर को नहीं मालूम; वर्त्तमान किला अकबर का बनवाया हुआ है और उसी ने इस के नीचे का घाट चलवाया था।

अटक से सिन्धु पार कर के खैराबाद स्टेशन पड़ता है जहाँ से पीछे दुर्ग और पुल का पूरा दृश्य दीखता है। यहाँ से आगे सड़क काबुल नदी के साथ-साथ चलती है। अठारह-बीस मील जा कर नौशेरा पड़ता है। यहाँ पर सिख रेजिमेंट का मेस दर्शनीय था। आसपास के प्रदेश में पायी गयी गान्धार मूर्तियों, अर्धचित्रों, मसाले की बुद्ध और बोधिसत्त्व-मूर्तियों के भग्नावशेषों को यहाँ सुन्दर ढंग से सजा कर प्रदर्शित किया गया था; और भीतर तिब्बती रेशमी टंकाओं का संग्रह भी बहुत अच्छा था। नौशेरा की दूसरी उल्लेखनीय वस्तु है वहाँ का विशिष्ट कबाब जो 'चपली कबाब' कहलाता है—वह पेशावरी चप्पल के तले जैसा फैला हुआ होता है। पनहिया सत्कार के लिए दो जूते देने का मुहावरा है, चपली कबाब एक ही पूजा के लिए यथेष्ट होता है।

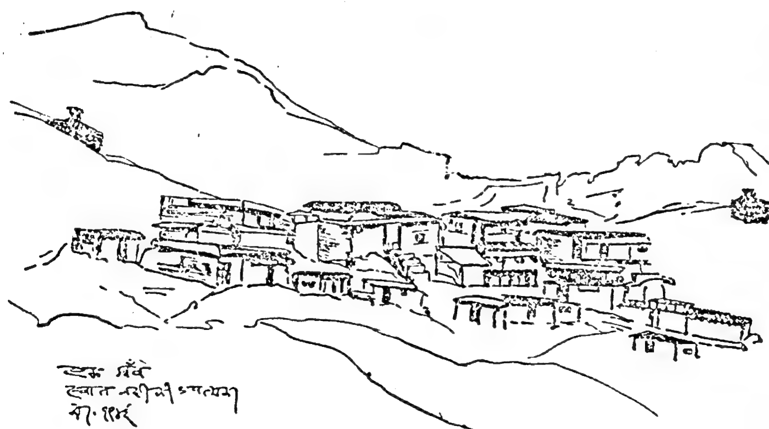
नौशेरा से दूसरा विकर्षण—ऐसे धुआँधार पंडित क्या अब नहीं रहे जो विकर्षण और अँग्रेजी एक्सकर्शन की व्युत्पत्ति एक ही धातु से कर दें?—होती मर्दान और तख्त-बहाई का रहा। काबुल नदी पार कर के रिसालपुर छावनी के पास से सड़क जाती है। रिसालपुर में—जैसा कि नाम से स्पष्ट है—रिसाला रहता है और एक हवाई अड्डा भी है।

मर्दान में भी 'गाइड्स कैवेलरी' का मेस गान्धार शिल्प का संग्रहालय ही था। अधिकांश सामग्री मलकंड और स्वात की दून की खुदाइयों में प्राप्त हुई थी और फ़ूशे ने अपने ग्रंथ 'सूर ला फ्रोन्तियेर एन्दो अफ़गान' (भारतीय अफ़गान सीमान्त पर) में उस का वर्णन किया है; शेष सामग्री रिसाले के अफ़सरों द्वारा जब-तब एकत्र की जाती रही। मर्दान से उत्तर-पूर्व शाहबाज़गढ़ी में अशोक का प्रसिद्ध प्रस्तर लेख है जो खरोष्ठी लिपि में लिखा है।

मर्दान से आठ मील दूर तख्त-बहाई और शहरे-बहलोल के बौद्ध अवशेष हैं। किन्तु उन की यात्रा का वर्णन करने से पहले थोड़ी भूमिका आवश्यक है।

यायावर का नियम था कि जहाँ-जहाँ जाता वहाँ के प्रमुख व्यक्तियों से मिल लेता, और कभी-कभी इन्हीं के साथ जहाँ-तहाँ घूमने का प्रसंग भी निकल ही आता। इसी तरह नौशेरा से एक रूसी कलाकार उस के साथ हो लिये थे। उन्हें सुविधा के लिए रूसी कलाकार कह लिया जाय; अन्यथा इस उपाधि के दोनों पदों की व्याख्या होनी चाहिए। ये सज्जन जन्मना पोलैंड-वासी व्हाइट रशियन रहे; रूसी क्रान्ति के समय इन के पिता भाग कर चीन चले गये थे और उत्तरी चीन में बस गये थे। लड़का एंटन चीन में घर से असन्तुष्ट हो कर पहले हाङकाङ और फिर शाङहाई भाग गया था, और फिर उपजीविका के लिए शाङहाई की फ्रांसीसी पुलिस में भरती हो गया था। इस प्रकार उस ने फ्रान्सीसी नागरिकता प्राप्त कर ली थी। वहीं संगीत में रुचि के कारण वह पुलिस बैंड का निर्देशक बना था, और पीछे नौकरी छोड़ कर रंग-मंच का संगीत-निर्देशक और अभिनेता भी हो गया था। थोड़ी-बहुत चित्रकारी भी जानता था, अतः पर्दे आदि रँगने का काम भी कर लेता था। दूसरे महायुद्ध के समय भारत आ कर वह भारतीय नृत्य-कला और लोक-नाट्य का अध्ययन कर रहा था। यह अध्ययन उसे नौशेरा कैसे ले गया, यह प्रश्न व्यर्थ है; उपर्युक्त वर्णन से समझ लेना चाहिए कि उस के भी सिर-पैर में चक्कर था।

तो मर्दान के मेल-मिलाप में दोनों साथ-साथ लोगों से मिलते थे। प्रभावोत्पादकता के लिये कभी दूसरों के सामने 'अहो रूपं, अहो ध्वनिः' भी कर लेते थे, और कभी-कभी अकेले किसी से मिल कर दूसरे की बड़ाई कर आते थे—एंटन की हिन्दी में (जो उसने कलकत्ते में बंगालियों में सीखी थी!) 'ये साब चालता हाय—ऐसा क्यूँ नेइ करेगा?' निदान होती-मर्दान के नवाब से एंटन मिलने गया और यायावर की तथा अपनी तरफ़ से उन्हें चाय पर निमन्त्रित कर आया। नवाब साहब मर्दान के सर्किट हाउस में पधारे तो यायावरद्वय देखते रह गये—उन के साथ आठ अंगरक्षक राइफ़लें लिये हुए आये और जब नवाब साहब को कुर्सी दी गयी तो पीछे कतार बाँध कर खड़े हो गये। भेंट यों भी औपचारिक थी; इस असाधारण वातावरण में वार्तालाप कुछ बहुत हार्दिक नहीं हुआ, यह समझा ही जा सकता है। फिर भी उसे चलाये रहने के लिए तख्त-बहाई



की बात छेड़ी गयी; जिस पर नवाब साहब ने पथ-प्रदर्शक भेज देने का वचन दिया। इस से आगे भी वह व्यवस्था करने का आश्वासन देते थे, पर उन के अपने अमले को देख कर अनुमान किया जा सकता था कि वह

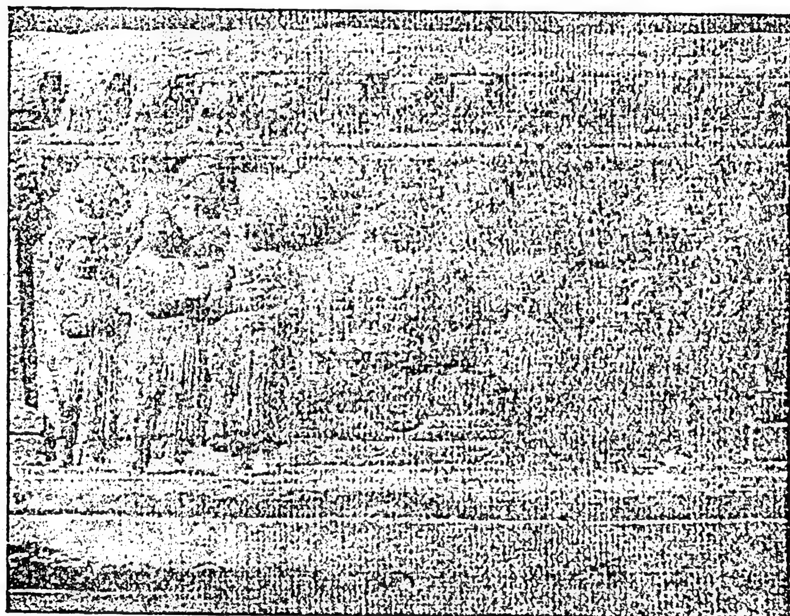
व्यवस्था कैसी होगी, अतः उसे धन्यवाद देकर टाल दिया गया। अन्त में नवाब साहब ने दोनों को उपहार-स्वरूप एक-एक छोटा स्वाती कम्बल दिया। इस अप्रत्याशित कृपा का प्रतिदान देने के लिए उपस्थित कुछ नहीं था, अतः यायावर ने अपने सामान में महीनों से सँभाल कर रखी हुई पुर्तगाली ब्रांडी की बोतल और उस की देखा-देखी एंटन ने घर की याद को मीठा बनाने के लिए छः साल से छिपायी हुई रूसी वोद्का की बोतल उन्हें भेंट कर दी। नवाब साहब स्पष्टतया इस प्रति-भेंट से तुष्ट हुए दीखे; दूसरे दिन प्रातःकाल एक नवयुवक एक तश्त में कुछ खाद्य सामग्री लाया और मालूम हुआ कि वह मार्ग-दर्शक है।

रविवार था, छुट्टी थी। गाड़ी न ले जा कर रेल से ही जाने का निश्चय था। जाने और आनेवाली गाड़ी में लगभग तीन घंटे का अन्तर था, मार्गदर्शक ने कहा कि अवशेषों को देखने के लिए यह पर्याप्त है।

तख्त-बहाई एक पहाड़ी पर है जिस की रीढ़ का छोर स्टेशन से आध मील दूर ही मिल जाता है। पहाड़ी लगभग ८०० फुट ऊँची है; बिल्कुल सूखी और नंगी; ढंग का रास्ता पकड़ने के लिए दो मील सड़क से जा कर पहाड़ी के मध्य तक पहुँचते हैं और वहाँ से चढ़ाई आरम्भ करते हैं। किन्तु मार्गदर्शक छोटे रास्ते से ले जा रहा था न, उसने रीढ़ का छोर पकड़ा और उसी के ऊपरी किनारे-किनारे चढ़ चला। पीछे यायावर और उस के पीछे एंटन—और यायावर और एंटन के बीच का फ़ासला बढ़ता चला...पहली चढ़ाई के बाद थोड़ी देर के लिए एक समतल-सी जगह मिली—जैसी बाख्त्री ऊँट के दो कूबों के बीच होती है!—तो एंटन ने हाँफते हुए मार्ग-दर्शक से कहा, "ब-हूत आच्छा रास्ता हैं यह, क्यूँ? चढ़ने का मजा आ गिया!" और यायावर से अंग्रेज़ी में कहा, "अच्छा शार्टकट दिखाया है, पाजी कहीं का!" यायावर ने शरारत से भर कर युवा से कहा, "साहब इस रास्ते से बहुत खुश है, और भी छोटा कोई रास्ता है? खतरे की फ़िक्र नहीं है साहब को।"

युवक खिल गया। खतरे की फ़िक्र हो भी तो भी पठान गड़ेरिये की पगडंडी पकड़ता है, अब तो वह बकरी की लीक भी छोड़ेगा। वह सचमुच पहाड़ी छाग की तरह सधे हुए पैरों से फुर्ती से उछलता हुआ ऊपर चढ़ने लगा।

एंटन ने रुक कर नीचे से पुकारा, "हे, हे, हामरा पास में रस्सी नेइ है, हाम कैसे आयेगा ?"



बुद्ध : गान्धार अर्धचित्र
(मलकंड से प्राप्त)

सचमुच ऐसी परिस्थिति आ गयी थी कि पत्थरों पर चिपट कर दरारों में हाथों-पैरों के पंजे गड़ा कर चढ़ना पड़े—मार्ग-दर्शक भी जहाँ-तहाँ हाथों से काम लेता हुआ चढ़ रहा था। दोन-तीन बार यायावर ने ऊपर से हाथ बढ़ा कर एंटन को खींचा। युवक ऊपर से खीसें काढ़ कर हँसता

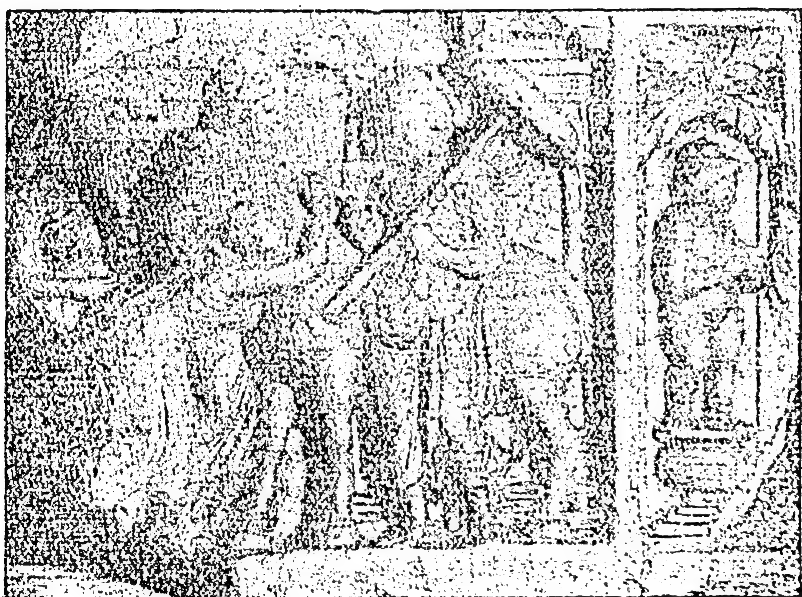
रहा। एंटन ने झल्ला कर कहा, "चीकी बाउंडर!" किन्तु फिर शायद सोच कर कि अंग्रेजी गाली भी जोंक को सीधा नहीं करती, एक बार 'हूफ्फ़!' कर के बैठ गया और बोला, "ऑल राइट, ऑल राइट! आई गिव अप!" (अच्छा भाई, मैं हारा!)

युवक ने हँस कर कहा, "इस से भी अच्छा रास्ता है—" लेकिन फिर पसीज भी गया, बोला, "अब थोड़ा दूर है बुत का जगेह।"

तख्त-बहाई में, अब, देखने को कम है। चढ़ाई का मार्ग और परिपार्श्व का दृश्य ही मुख्य है, क्योंकि आसपास के पहाड़ों पर कई विहारों और दुर्गों के अवशेष हैं, और इन की निर्माण-परिपाटी से तत्कालीन वास्तु-कला का अनुसन्धान बड़ा रोचक है। जंगम कलावस्तु वहाँ अब लगभग नहीं है, जो रही वह या तो पेशावर के संग्रहालय में गयी या पारखियों के निजी संग्रहों में बहुत-सी व्यापारियों या निरे चोरों के पास भी गयी और जब-तब किसी रूप में प्रकट हो जाती है। तख्त-बहाई में जो कुछ है—या कि अन्य वैसे स्थानों में—वह सब खंड-खंड; प्रायः मूर्तियों के सिर नहीं हैं और अगर टूटे हुए सिर हैं तो उन के भी चेहरे मिटा दिये गये हैं। और होता भी क्या जब कि बुतशिकनी से जन्नत मिलती हो और राह चलते-चलते भी बुतखानों पर ढेले-पत्थर फेंकते जाने से सहज ही सवाब मिलता रहता हो!

तख्त-बहाई से लाइन आगे दरगई जाती है, जहाँ एक बीहड़ दुर्ग है और जहां से मलकंड की घाटी का पथ आरम्भ होता है। यायावर का इरादा मलकंड से स्वात नदी के पार चकदरा के किले तक जाने का था। स्वात की उपत्यका ही प्राचीन 'उड्डीयन' रही (उडेग्राम की बस्ती अब भी है); ह्वान च्वाङ् ने इस नाम को 'उद्यान' बना दिया, जो कि यों कम उपयुक्त नहीं रहा होगा—सारा प्रदेश विहारों से भरा रहा होगा। फ़ाह्यान के अनुसार वहाँ पाँच सौ संघाराम रहे, और सुङ्युन ने प्रदेश को 'सम-शीतोष्ण, उर्वर, जाड़े-गर्मी भर फूलों से भरा रहनेवाला' बताया

है—रात में सारी उपत्यका घंटा-ध्वनि से गूँजा करती थी...वह गौरव न जाने कहाँ विलीन हो गया, अब सारे प्रदेश में असंख्य भग्नावशेष बताते हैं कि वे न केवल कीर्तिनाशा काल-गति के आगे झुके वरन् हजारों भोले मतान्धों के पुण्य-संचय का भी सहज साधन बनते रहे। ब्रितानी सत्ता की धाक से जो स्वात नहर दो मील लम्बी सुरंग काट कर बनी, उस से प्रदेश की हरियाली तो फिर लौट आयी, किन्तु शान्तिदूत बुद्ध के विहारों का स्थान सैनिक डिपो-छावनियों ने ले लिया...



महाभिनिष्क्रमण के उपरान्त
सारथि के साथ लौटे घोड़े से लिपटकर
बुद्ध-पत्नी का विलाप
(मलकंड से प्राप्त)

किन्तु कई कारणों से यायावर का आगे जाना न हो पाया, और उसे दूसरे दिन मोटर से केवल मलकंड छू आने से सन्तोष करना पड़ा। किन्तु दरगई में बिताये हुये दो घंटे अवश्य सफल हुए, क्योंकि वहाँ उसे कुछ गान्धार मूर्त्ति-खंड और एक मसाले की बुद्ध-मूर्त्ति का सिर प्राप्त हुआ। सामग्री कुछ और भी थी, किन्तु कुछ तो अधिक टूटी-फूटी थी और कुछ बड़ी भी, उस सब को ले आना तब सम्भव न हुआ।

और तब न हुआ, तो न हुआ।

और अब न होगा...

❀ ❀ ❀ ❀

मर्दान से पेशावर चारसदा हो कर जाने का विचार था, इसलिए कि एक नया रास्ता भी देख लिया जायगा और साथ ही एक प्राचीन नगरी का स्थान भी—चारसदा ही सिकन्दर-कालीन राजधानी पुष्कलावती है। किन्तु तभी चारसदा में एक घटना हुई जिस में दो-एक भारतीय सिपाही मारे भी गये; फलतः चारसदा 'हद से बाहर' घोषित कर दिया गया और रास्ता सैनिक यात्रियों के लिए बन्द कर दिया गया।

लौटते हुए रिसालपुर के पास एक घटना घटी। काबुल नदी के पुल और रिसालपुर के बीच में कुछ टीले हैं जिन में से हो कर सड़क जाती है। ये टीले ऐसे हैं कि दूर से आती-जाती गाड़ी वहाँ से दीखती है जब कि टीले की ओट में बैठा व्यक्ति सड़क से नहीं दीखता। पठान युवक ऐसे स्थलों पर बैठ कर चाँदमारी का अभ्यास किया करते हैं—और ऐसे ही स्थलों पर नौसिखिया बन्दूकचियों की परीक्षा भी हुआ करती है। झुटपुटे का समय इस के अनुकूल होता है, क्योंकि दिन में दूर से ठीक नहीं जाना जाता कि आती-जाती गाड़ी में निशाना कहाँ लगा, जब कि दिया-बाती के बाद तुरत पता लग जाता है कि मोटर की बत्ती को शिस्त ले कर चलायी गयी गोली ठीक बैठी या चूक गयी। यायावर ने यह बात नौशेरा में ही सुन ली थी, और जिस जानकार से सुनी थी उस ने यह भी उपदेश दिया था कि कभी लाचार झुटपुटे के समय आना पड़ ही जाय तो

बत्तियाँ तेज़ न जलायी जानी चाहिए बल्कि मन्द कर के। क्यों? इस लिए कि तेज़ बत्ती की चौंध होती है; पठान निशानेबाज़ अगर ठीक शिस्त न ले पायेगा तो गोली जहाँ-तहाँ लग सकती है, अगर मन्दी बत्ती होगी तो निशाना बत्ती पर ही लगेगा।

उस समय तो बात बहुत पते की जान पड़ी थी। यह न सोचा कि निशानेबाज़ अगर नौसिखिया होगा, तो वह बत्ती का ही निशाना लगाने की मर्यादा नहीं भी रख सकता है; शग़ल के लिए यह भी तो सोचा जा सकता है कि अगर बत्ती अमुक स्थान पर है तो पिछला टायर कहाँ पर होना चाहिए—या देखें तो ड्राइवर की सीट का अनुमान से निशाना लगाया जा सकता है या नहीं! यह बात यायावर की समझ में तब आयी जब वह मर्दान से साँझ को ही लौटा, और टीले के पास आ कर उसने बत्ती मन्द करने की बजाय बिल्कुल ही बन्द कर दी। उसे अँधेरे में गाड़ी चलाने का अभ्यास कुछ तो था ही, और कुछ वह बढ़ाना भी चाहता था। टीले के मोड़ पर मुड़ते ही एक गोली झन्न से अगले दायें मडगार्ड पर लगी—शायद पहिये के लिए प्रेषित की गयी थी—और दूसरी सामने के दो शीशों में से बायें शीशे को भेदती चली गयी। यह ड्राइवर के लिए भेजी गयी रही होगी, या कि (यह मान कर कि ड्राइवर तो निरा ड्राइवर होता है, असली सवारी तो बगल में होगी!) साथ के व्यक्ति के अभिवादन में! एंटन भाग्यवश थका होने से पिछली सीट पर लेटा हुआ था, नहीं तो उस दिन एक रूसी कलाकार कम हो गया होता। यह और बात है कि कोई उसे न रूसी माने, न कलाकार!

थोड़ी देर में दूसरे टीले की ओट मिल गयी, फिर खुला रास्ता, जहाँ बत्तियाँ जला ली गयीं...

तीसरा अभियान—कोहाट।

पेशावर से यों तो खैबर का सीधा रास्ता है, और वास्तव में अनुक्रम में रहा भी पहले खैबर, किन्तु पथभ्रंशों का इतिहास पूरा ही हो जाय तो आगे बढ़ा जायगा।

नौशेरा से आगे भी सड़क काबुल नदी के साथ-साथ चलती है—कभी कुछ निकट, कभी कुछ दूर। नौशेरा से कुछ आगे ही बाग आरम्भ हो जाते हैं, और पब्बी स्टेशन से आगे पेशावर तक के बारह-एक मील तो जैसे एक लम्बा बाग ही है। पब्बी से बायें तो चेरात का पर्वतीय ठिकाना है जिस की पिछली (दक्खिनी) तरफ़ कोहाट पड़ता है। पेशावर से कोहाट का रास्ता कोहाट की जोत से हो कर जाता है। पेशावर से दक्षिण को जा कर आदमखेल अफ़ीदियों का स्वतन्त्र इलाका पार करते हुए जोत की चढ़ाई आरम्भ होती है; ठीक जोत पर एक किला है और उस के बाद ही सख्त उतराई शुरू हो जाती है—तीन मील में रास्ता लगभग एक हज़ार फ़ुट नीचे उतरता है!—और दो मील और जा कर कोहाट पहुँच जाते हैं। कोहाट की जोत, तीरा पर्वत-श्रेणी की सब से पूर्वी बाँही को काटती है। जोत भी स्वतन्त्र इलाके में है और दिन में ही पार की जा सकती है।

तीरा पर्वत-श्रेणी के अफ़ीदी जाड़ों में आकाखेल और कजुरी के खुले प्रदेश में उतर आते हैं, जो बाड़ा नदी की दून है। यह नदी पेशावर से दक्षिण में कोहाट को सड़क को और पूर्व में ग्रांड ट्रंक रोड को काटती है, और इसी से पेशावर को पानी मिलता है जो बाड़ा से आठ मील जलप्रणालियों द्वारा लाया जाता है। इसी दून से अफ़ीदियों ने सन् १९३० में पेशावर पर आक्रमण किया था, जिस के बाद उस प्रदेश पर कब्जा कर लिया गया था। किन्तु कोहाट की सड़क पहले पन्द्रह मील के बाद स्वतन्त्र इलाके में प्रवेश करती है और कोहाट की जोत को पार कर के उस से निकलती है। सड़क पर कँटीले तार के जाल स्वतन्त्र प्रदेश की मर्यादा सूचित करते हैं। यहीं पास में ऐमल चबूतरा है और उस से बायीं ओर मैकिसन दुर्ग। सड़क हरे-भरे और सुन्दर प्रदेश से गुज़रती है, जहाँ-तहाँ धान के खेतों के बीच फल-वृक्षों के झुरमुटों में गाँव हैं और चमचमाते स्वस्थ चेहरेवाले अफ़ीदी पीठ पर एक और कभी दो-दो राइफ़लें लटकाये घूमते हैं। सड़क से कुछ हट कर ही इस प्रदेश का बन्दूकों का मुख्य कारखाना है।

कोहाट से आगे एक सड़क रेल की पटरी के साथ थल को जाती है, दूसरी बहादुरखेल होती हुई बन्नू, और एक सकड़ खुशहालगढ़ पार कर के कैम्बलपुर जा मिलती है। कुर्रम नदी पर बसा हुआ थल तो एक टोली के साथ जा कर छू आया गया, किन्तु और आगे का डौल नहीं हो सका।

पुनः उसी राह से पेशावर लौटना पड़ा।

भारत के नगरों की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। यों तो किसी भी शहर को एक विशेषण में नहीं बाँध लिया जा सकता क्योंकि प्रत्येक में विविधता है, किन्तु उस विविधता की भी अलग लीकें हैं। यथा जोधपुर में रंगों की विविधता उसे विशिष्ट करती है, श्रीनगर में गन्धों की विविधता ('सहस्रागन्धा नगरी'), लाहौर में गन्दगी की अथवा (इस विषय में कलकत्ते को प्रतियोगी मान लें तो) फैशन की, इत्यादि। इसी प्रकार पेशावर की विशेषता उस के बाज़ारों की सजीवता में थी—यद्यपि उन में रंगीनी, गन्ध या गन्दगी या फैशन की भी कुछ कमी न थी!

याड़ा नदी को पार कर के और बालाहिसार के किले के नीचे से होते हुए यायावर पेशावर पहुँचा, तो पहली समस्या रहने के स्थान की हुई। उस का समाधान हुआ तो दूसरी समस्या भोजन की हुई, किन्तु उस पर विचार करने जब हॉटेल ग्रीन्स में बैठ कर चाय-पान शुरू किया—भोजन का समय निकल चुका था, समस्या का हल रात तक ढूँढ़ा जा सकता था!—तब सामने की मेज़ पर एक पठान को अन्य सामग्री के साथ तीन-तीन पाव भुनी हुई दुम्बे की चर्बी की एक के बाद एक कर के तीन प्लेट खा लेते देख कर यायावर ने समझ लिया कि इस भोजन-रसिक रसना-लोलुप देश में समस्या अगर होगी तो खाने की नहीं, न खाने की हो सकती है!

पेशावर तीन स्पष्ट भागों में बँटा है। एक भाग तो शहर है ही, एक सिविल बस्ती है जो अन्य अच्छी सिविल बस्तियों की तरह साफ़ सुथरी और ढंग की बनी है, फिर एक फ़ौजी बस्ती अलग जिस से लगा

हुआ हवाई बन्दर भी है। छावनी का रखाव ऐसा बनाया गया है कि दोनों सिरों पर भारतीय सैन्य रहता है और बीच में ब्रितानी पलटनें।

शहर उन दिनों फ़ौजियों के लिए 'हद से बाहर' था—उन का इलाका सिविल लाइन और सदर तक सीमित था। किन्तु पेशावर आ कर पेशावर न देखना असह्य था। छुट्टी के दिन तक प्रतीक्षा अवश्य की जा सकती थी। इस अन्तराल में कुछ स्थानीय परिचय भी पा लिये गये। रूसी उज़बकिस्तान के एक व्यक्ति अब्दुल करीम का, जिस से बम्बई का थोड़ा-सा परिचय था, पता लगाया गया, और उस के द्वारा और दो-चार व्यक्तियों से सम्पर्क हुआ। इन्हीं में से एक, ताजिक नूर मुहम्मद से तय हुआ कि रविवार को शहर में उस के यहाँ भोजन होगा और बाजार की सैर की जायगी। इस निर्णय में एंटन का भी भाग था; कैसे, यह अभी विदित होगा।

रविवार को यायावर ने मुफ्ती पहनी। सिर पर अब्दुल करीम से माँगी हुई अत्रखानी टोपी लगायी। एंटन पर तो बन्धन था ही नहीं। दोनों खोजते हुए नूर मुहम्मद के यहाँ पहुँचे। भोजन में भुना हुआ माँस, खमीरी मीठी रोटी जिस में भीतर किशमिश और ऊपर खसखस यथेष्ट था, और गहरी चाय मिली। भोजन के बाद वार्तालाप हुआ, जिस का ढंग उल्लेखनीय था। एंटन अंग्रेजी के अतिरिक्त ताजिकी भाषा जानता था। नूर मुहम्मद की वह मातृभाषा थी, उस के अतिरिक्त वह उज़बकी भी जानता था। अब्दुल करीम उज़बकी और उर्दू जानता था। वार्तालाप चक्रगति से चला—यायावर एंटन से अंग्रेजी में कुछ कहता, एंटन नूर मुहम्मद से ताजिकी में बात करता, नूर मुहम्मद अब्दुल करीम से उज़बकी में, और अब्दुल करीम यायावर को उर्दू में उत्तर देता। यों दोनों की भाषा में फ़ारसी धातुओं की यथेष्ट मात्रा रहने के कारण कुछ बात तो यों भी अनुमान से समझी जा सकती थी।

नूर मुहम्मद जूतों का व्यापार करता था—वह और उस का परिवार स्वयं जूते सीते थे। उस की कारीगरी की कीर्ति थी और उसके हाथ के

सिले जूते दूने दामों पर बिकते थे। उस के साथ बाज़ार की सैर आरम्भ हुई तो पेशावरी तिल्लई चप्पलों के बाज़ार में पहले घुसना स्वाभाविक था—नज़दीक भी वही था!

पेशावर का शहर अन्य उत्तरी शहरों की भाँति प्राचीर से घिरा हुआ है जिस में बीस फाटक हैं। इन में मुख्य काबुली दरवाज़ा है, जिस के भीतर पेशावर का अनुपम क़िस्साख़ानी बाज़ार है। रेशमी लुंगियाँ, कुल्ले, कपड़े पर मोम का काम, कारुकार्य, तिल्लई चप्पल और बढ़िया चाकू—ये पेशावर के मुख्य व्यवसाय हैं। यों तिल्लई जूते बढ़िया रावलपिंडी के ही माने जाते हैं और वहाँ से पेशावर भी बिकने आते हैं। इन स्थानीय शिल्पों के अतिरिक्त पेशावर सारे उत्तर-पश्चिमी अंचल के शिल्प के लिए बड़ी मंडी है; काबुल, बुख़ारा और मध्य एशिया से सार्थवाह यहाँ आते हैं। स्वात और चित्राल की दस्तकारियों के नमूने भी यहाँ मिलते हैं। खैबर के रास्ते सप्ताह में दो बार जो मीलों लम्बे काफ़िले उतरते और चढ़ते हैं, पेशावर ही उन का परम तीर्थ होता है। बाज़ार में मोल तोल करने का भी पठान का अपना ढंग है, जिसे और लोग अपना तो सकते ही नहीं, सर्वदा ठीक समझ भी नहीं सकते। यह सब आवाजाई, हल्ला-गुल्ला, खींच-तान, लल्लो चप्पो, टिटकारी-निहोरे, चमक-दमक, कुला-शमला, जूतों की चरमर और मोछों की ऐंटन उस जगमग सजीवता के उपकरण हैं जिसे बाज़ार क़िस्साख़ानी कहते हैं; और जहाँ-तहाँ सींक और चपली कबाब, भुने दुम्बे, मेवे-बादाम और फलों की गन्ध-विगन्ध और रंग-बिरंगी दुकानों से मानों इस में और भी चिलक आ जाती है...

क़िस्साख़ानी बाज़ार को देख कर उस का सामंजस्य प्राचीन भारत का इतिहास पढ़ कर मन में बनाये हुए पुरुषपुर के चित्र के साथ करना कठिन हो जाता है। गान्धार राज्य की राजधानी पुरुषपुर का नामान्तर अकबर के समय हुआ था, जब वह गान्धार राज्य की राजधानी से अपदस्थ होकर केवल 'पेश आवर' रह गया—सीमान्त का नगर। प्राचीन गौरव के अवशेष जहाँ-तहाँ पुराखंडों में ही मिलते हैं। पेशावर के पास

ही 'शाहजी की ढेरी' में अनेक अन्य वस्तुओं के साथ एक कनिष्ककालीन मंजूषा भी मिली जिस में बुद्ध के धातु सम्पुटित थे। यह मंजूषा अब पेशावर संग्रहालय में है। आठवीं शती से पुरुषपुर पर पठानों के आक्रमण होने लगे; ग्यारहवीं शती के आरम्भ में राजा जयपाल और युवराज आनन्दपाल मुहम्मद ग़ज़नवी से पराजित हुए। पन्द्रवीं शती से वे कबीले आस-पास बसने लगे जो अब वहाँ के रहनेवाले हैं। सोलहवीं के आरम्भ में बाबर उधर से आया और उस के बाद अकबर ने शहर को नया नाम दे दिया। इन कई शतियों का इतिहास पेशावर संग्रहालय की वस्तुओं से मिल जाता है—वहाँ पर शाहजी की ढेरी के अतिरिक्त चारसदा, स्वात की दून, तख्त-बहाई और शहरे-बहलोल के भी अवशेष संग्रहीत हैं।

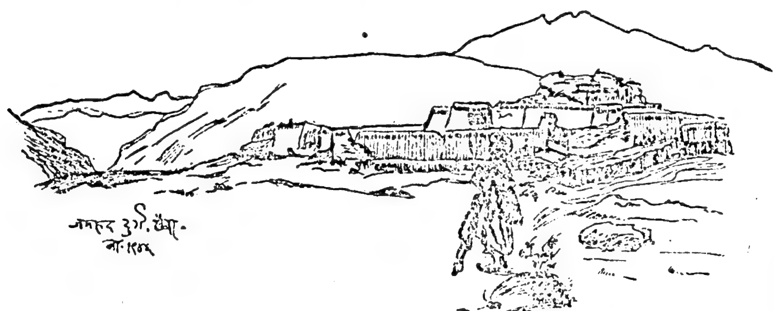
संग्रहालय के बाहर भी जहाँ-तहाँ अवशेष हैं, जिन के अवहेलासूचक नाम ही उन के ऐतिहासिक महत्त्व का वक्र संकेत करते हैं। उदाहरणतया पेशावर में ही जो गोर खत्री ('खत्री की कब्र') है, वह कभी बौद्ध विहार था, फिर हिन्दू मन्दिर रहा (अब वह तहसील है)। इसी प्रकार लंडी कोतल के ऊपर एक लाल किला है जिसे काफ़िर कोट कहते हैं— इस का इतिहास ज्ञात नहीं पर स्पष्ट ही वह गान्धार-काल की स्मृति है।

इसी प्रकार जिन स्थलों के नामों में बड़ाई है, उन्हें इतिहास का अध्येता मुस्करा कर छोड़ दे सकता है—यथा स्टेशन के निकट ही 'नौगज़ा पीर' का मज़ार—इस पीर के नौ गज़ लम्बे रहे होने के अतिरिक्त और उस की कीर्ति न मालूम हो सकी—यों पीर का मज़ार पाकगाह है और मुरादें पूरी करता है!

पेशावर से चले, तो यायावर का कुनबा कुछ बढ़ गया था। एंटन तो साथ था ही, चित्रकार कँवलकृष्ण और उन की पत्नी देवयानी भी साथ थीं। देवयानीजी इन्दौर की रहनेवाली हैं और स्वयं चित्रकर्त्री हैं, कँवल-कृष्ण जन्मना पंजाबी हैं, लेकिन वैसे यायावर परम्परा के साधक, जो चित्रों की सामग्री की खोज और घूमने की लत के कारण तीन-चार बार तिब्बत

और दो-तीन बार कैलास हो आये हैं और पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त भी छान चुके हैं। उन दिनों प्रान्त के गवर्नर सर जॉर्ज कनिंगहम के संरक्षण में कँवलकृष्ण-दम्पति की एक चित्र-प्रदर्शनी हो रही थी, जिस में विभिन्न यात्राओं में अंकित किये गये चित्र प्रदर्शित किये गये थे। यायावर ने कँवलकृष्ण को एक बार पहले देखा था जब वह महापंडित राहुल सांकृत्यायन के साथ तिब्बत गये थे; पेशावर में एक परिपक्व और विदग्ध रूपान्तर देखने को मिला। तभी खैबर-यात्रा का निश्चित हो गया। कँवलकृष्ण उन भारतीय चित्रकारों की श्रेणी में अन्यतम हैं, जिन की साधना और रचना की (भारतीयों द्वारा) उपेक्षा ही होती रही है। जहाँ चित्र के साथ पुराण नहीं तो कहानी तो अनिवार्यतः चाहिए ही, वहाँ दृश्यालेख (लैंडस्केप) की क़द्र क्या होगी, और जहाँ घर-गिरस्ती आबाद करनी ही जीवन की सफलता हो, वहाँ इस भटक-भटक कर अनुभव-संचय, और जीवन के रसशोध को कौन महत्त्व देगा! यह नहीं कि वैसे व्यक्ति को इस की परवाह होती है, किन्तु इन चीजों का उचित स्थान समझना कुछ देना नहीं, कुछ पाना है, और उस से संस्कृत जीवन की गहराई बढ़ती है...



जमरूद दुर्ग, खैबर

परमिट इत्यादि सब पहले से ले लिया गया था और लंडीकोतल की छावनी को सूचना भी कर दी गयी थी। प्रातःकाल ही हवाई बन्दर के

पास से हो कर यह 'मोटरबन्द काफ़िला' चला। कँवलकृष्ण-दम्पति ने एक डलिया में थर्मस-भर चाय, कुछ फल और कुछ अन्य सामग्री रख ली थी, एंटन को यों ही समय-असमय चरने की आदत थी और प्रायः चार पैकेट आलू के कुरकुरे और कुछ सैंडविच (डबल रोटी के पुटों में अंडा, मछली, तरकारी या कीमे का पूर) उसके दोहरे सीने की वास्केट के बहुसंख्यक खीसों में भरे ही रहते थे। यायावर भगवान् भरोसे था।

इस्लामिया कॉलेज के पास से हो कर सीधी-सपाट सड़क पर साठ-पैंसठ मील की चाल से गाड़ी चली जा रही थी। सामने ख़ैबर की पहाड़ियाँ थीं, छोटे-छोटे अभ्रक से चमकते पत्थरों की पचीकारी से भरी हुई सूखी, नंगी ढालें जिन में जहाँ-तहाँ कीलियों-सी मीनारें दीख जाती थीं। बायीं ओर हरिसिंह बुर्ज को छोड़ कर गाड़ी जमरूद पर रुकी। यह जंगी जहाज-सा दीखनेवाला, गारे की पपड़ी से ढका हुआ दुर्ग भी हरिसिंह के नाम से सम्बद्ध है—सिख सेनापति हरिसिंह नलवा ने अफ़गानों को अटक से ख़ैबर तक खदेड़ने के बाद—सन् १८२३ में इसे बनवाया था। यहीं पर चौदह वर्ष पीछे अमीर दोस्त-मुहम्मद के सैनिकों से युद्ध करते हुए नलवा सरदार ने वीर-गति पायी। हरिसिंह-बुर्ज में उस का दाह-संस्कार हुआ, और पीछे गुजराँवाला में समाधि बनी जो अभी तक है। देखने को किला बिल्कुल गारे से बना हुआ दीखता है, किन्तु उस की दीवारें आठ हाथ मोटी हैं, और धुस्स दोहरे फाटक और बुर्जों से परिपुष्ट की गयी हैं। किले के नीचे ही चौकी है जहाँ परमिटों की पड़ताल होती है। जमरूद पार कर के ख़ैबर घाटी की चढ़ाई आरम्भ हो जाती है।

ख़ैबर मार्ग को 'पास' कहते हैं, पर 'पास' वास्तव में 'जोत' का पर्याय है। पहाड़ी की रीढ़ पर की वह नीची जगह जहाँ रास्ता इस पार चढ़ कर उस पार उतरे, 'जोत' कहलाती है; यह नाम कुल्लू, काँगड़ा में अधिक प्रचलित है। इसी को गढ़वाल कुमाऊँ में 'घाटा', राजस्थान में 'घाटी' और पुश्तु में 'कोतल' या 'गर्दन' कहते हैं। पहाड़ की शृंखला के आरपार रास्ते को दर्रा कहते हैं, और ख़ैबर का दर्रा

उपयुक्त नाम है। सड़क और रेल की पटरी कुछ तो खैबर नाले की दून से और बाकी बगियारी की दून से हो कर गुज़रती है। लंडीखाना से तीन मील पहले ही वह जोत पड़ती है जहाँ से रास्ता शृंखला के पूर्वी पार्श्व को छोड़ कर पश्चिमी पार्श्व पर उतरता है; यह जोत लंडी की जोत अथवा लंडीकोतल है। सड़क लंडीखाने से आगे तूरखम तक जा कर अफ़गान-सीमा में प्रविष्ट होती है। रेल की पटरी लंडीखाने में समाप्त हो जाती है।

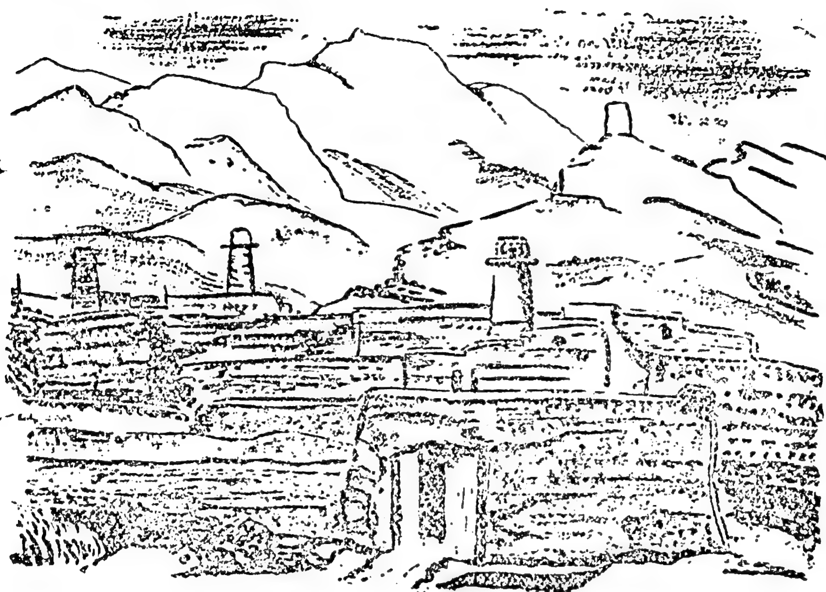
खैबर रेलवे इंजिनियरी विद्या का करिश्मा है। कई विदेशी विशेषज्ञों ने रेल की योजना को असम्भव ही घोषित कर दिया था, और सैनिक आवश्यकता के बिना इतना दुस्तर काम कभी उठाया न जाता। जमरूद से छब्बीस मील की पटरी पर चौंतीस सुरंगें हैं जो कुल पटरी की लम्बाई का अष्टमांश छते हुए हैं; एक मील में औसत लगभग चार पुल हैं जिन में कई बड़े दुर्गम स्थलों में बने हैं। चढ़ाई का अनुपात औसत ३३ में १ है, और कहीं-कहीं इस से भी कर्रा। चंगई स्टेशन पर एक मील से कम के घेरे में पटरी १३० गज उठती है, जो कि १३ में १ की चढ़ाई है। इतना अवश्य है कि यहाँ पर दूरी बढ़ाने के लिए पटरी दो बार आगे-पीछे जा कर त्रिपुंड-सा बनाती हुई चढ़ी है। इसी प्रकार लंडीकोतल से लंडीखाने की उतराई में तोड़ाटिग्गा की लौट (रिवर्सिंग) में भी हुआ है। रेल की पटरी के लिए एक यह भी समस्या थी कि वह कहीं भी सड़क से आधे मील से अधिक दूर न हो—सैनिक-सुरक्षा की दृष्टि से इस मर्यादा का कड़ाई के साथ पालन हुआ। अब दोनों में औसत दूरी चौथाई मील की है।

खैबर की सड़क का निर्माण पहले-पहल लेफ़्टिनेंट मैकिसन ने प्रथम अफ़गान युद्ध के बाद सन् १८४० में किया था। उसने सड़क का निर्माण दोनों सिरों से आरम्भ किया था—जमरूद से ऊपर और लंडी से नीचे, अली

मस्जिद तक। वैसे खैबर के दर्रे का प्राचीन व्यापारिक मार्ग तो सदियों से चला आता था और अब भी पक्की सड़क के साथ-साथ कहीं-कहीं उसे काटता हुआ चला है। यह प्राचीन मार्ग भारत के सभी विदेशी आक्रमणों का मार्ग न भी रहा हो, तो भी यह एशिया की जातियों का सदा परिचित रहा और नाना देशों के सार्थवाहों ने इसी की धूल की झिलमिल के पार ऋद्धि के स्वप्न देखे। भारत के गान्धार उपनिवेश से सम्पर्क की धमनी तो यह थी ही, ईरान और अरब के लिए भी यही मार्ग था। अभी तक मध्य एशिया के व्यापार के लिए यह प्रमुख निर्यात मार्ग है, और अब भी सप्ताह में एक या दो बार इसी राह से दो-कुब्बे बाख्त्री ऊँटों, बैलों, खच्चरों और गधों के मीलों लम्बे काफ़िले गुज़रते हैं, जिन के साथ टाँडा-टब्बर लिये सैकड़ों काफ़िलेदार चलते हैं। प्राचीन काल में ये काफ़िले अपनी रक्षा की व्यवस्था स्वयं करते थे, जब यायावर गया तब रक्षा का काम खासादारों के सिपुर्द था, जो ब्रितानी पोलिटिकल एजंट से गोलाबारूद और रुपया पाते थे। इन काफ़िलों से लम्बे (यद्यपि सर्वथा भिन्न प्रकार के!) टाँडे उत्तर-पश्चिम में केवल रज़मक के नीचे गोमल नदी की दून में देखे जाते हैं, जहाँ घुमन्तू पविंडे जाड़े लगते ही अपने रेवड़ लेकर अफ़ग़ानिस्तान के पर्वतों से उतरते हैं और बसन्त में फिर पश्चिमोन्मुख होते हैं। ये टाँडे तो छः-सात मील लम्बे होते हैं!

खैबर की सड़क कोटों और दुर्गों से पटी हुई है। जमरूद के बाद फ़ोर्ट मॉड, शगई और अली मस्जिद के किले मुख्य हैं, फिर ज़िनतारा पार कर के लंडी पहुँचते हैं जो बड़ी छावनी है। शगई का किला कच्ची और पक्की सड़क के बीच पड़ता है। इस के बाद अनेक बुर्जों और ठियों से भरी एक तंग घाटी में से बढ़ते हुए काटा कुश्ता पहुँचते हैं, जहाँ से

रास्ता फिर खुल जाता है। काटा कुश्ता तक का प्रदेश कुकीखेल और मलिकदीन कबीलों की भूमि है, इस से आगे लंडी तक दबंग जक्काखेल



खैबर का एक किलेबन्द गाँव

का इलाका है। लंडी के आसपास इस खेल के अतिरिक्त शिनवारियों के भी गाँव हैं। जिनतारा के आसपास अनेक अफ़्रीदी गाँव हैं। कच्ची ईंट और गारे के अफ़्रीदी घर चपटे, सूने और मनहूस दीखते हैं, बाहर से गाँव का कोई किवाड़ नहीं दीखता, केवल सपाट दीवारें जिन में जहाँ-तहाँ बन्दूक की नली निकालने भर को सूराख...अंग्रेज़ी कहावत है कि 'अंग्रेज का घर उस का गढ़ है', लेकिन अफ़्रीदी का सब कुछ ही गढ़ है—उस की आँखें, हृदय, चेहरा, शरीर, उस का घर, गाँव, कबीला, सभी!

लंडीकोतल पहुँच कर नियमानुसार हाज़रियाँ भर कर छुट्टी पा ली, तो समस्या हुई कि घूमने के लिए मार्ग-दर्शक कहाँ मिलेगा। यों वर्दी पहने होने के कारण थोड़ा-बहुत तो यों ही भटका जा सकता, पर इतना पर्याप्त न था। कोतल के फ़ौजी अस्पताल के कमांडिंग अफ़सर मेजर रैना ने उबारा—उन के उदार आतिथ्य से तृप्त हो कर उन के सहकारी कप्तान सिंह को साथ ले कर यायावर आगे चला।

लंडीखाने की उतराई यों भी कड़ी है, तिस पर उस कंकरीट की सड़क पर 'अजगर-दाँत' पड़े हुए थे। अजगर दाँत (ड्रैगन्स टीथ) जंगी टैंकों की बाढ़ को रोकने के लिए सड़क पर बनाये गये लोहे और कंकरीट के अटकाव को कहते हैं। कंकरीट की सड़क में जमायी हुई लोहे की कीलियों पर कंकरीट के टोपे जमा कर सड़क को आर-पार पाट देते हैं। टैंक के पहिये जो अपनी कनखजूरी पेटी के कारण खाई-खड्डे सब लाँघते हुए उतरते-चढ़ते जा सकते हैं, इस एक-ड़ेढ़ फ़ुट ऊँची बाधा से रुक जाते हैं क्योंकि उस की समकोण उठान कहीं पकड़ाई नहीं देती और न उसे धक्के से गिराया जा सकता है। यह कोई स्थायी रक्षा तो नहीं है पर इस से दो-तीन दिन का भी अवकाश रक्षकों को मिल जाय तो यथेष्ट होता है। जिन दिनों यायावर गया उन दिनों आधी सड़क में दाँत लगे हुए थे, बाक़ी खुली थी पर इस में भी जहाँ-तहाँ कीलियाँ लगी हुई थीं। काबुल से आने वाली सड़क पर टैंक-रोधक रक्षाओं की आवश्यकता पर यायावर विचार कर ही रहा था कि उसे याद आया, युद्ध आरम्भ हुआ तब भारतीय सेना के ब्रितानी संचालक संकट की सम्भावना पूर्वी सीमान्त पर नहीं, पश्चिमी सीमान्त पर करते थे, और आक्रमण भी नात्सी-फ़ाशी देशों का नहीं, रूस का! ये सब रक्षाएँ काबुल मार्ग से आने वाले सम्भाव्य रूसी आक्रमण की रोक के लिए की गयी थीं—आधी सड़क बन्द कर दी गयी थी और बाक़ी को आवश्यकता पड़ते ही बन्द करने की व्यवस्था कर रखी गयी थी! यायावर को एक उच्च सैनिक अधिकारी ने जो एक सशस्त्र मोटरबन्द सेना (आर्मर्ड कोर) के अफ़सर थे, बताया

था कि सन् '४२ के पूर्वार्द्ध में भी उन की सेना रूस का सामना करने के 'नकली युद्ध' और अभ्यास कर रही थी। युरोपीय युद्ध की निष्पत्ति के उपरान्त इन दाँतों को उखाड़ देने का कार्य आरम्भ हुआ, किन्तु उतनी दूर तक ले जा कर छोड़ दिया गया जितने से आने-जाने का पथ खुला रहे।

लंडीखाने से पहले पथ के उत्तर को मिचनी कंडाव का किला पड़ता है। यहाँ से पहाड़ का उत्तर गैंडे के पार्श्व जैसा सीधा है, जिसमें सड़क बल खाती उतरती है। रेल का ऐसे मार्ग से जाना असम्भव दीखता है, किन्तु उसका अधिकांश भाग सुरंगों में से हो जाता है और तोड़ाटिग्गा में जा कर निकलता है, जहाँ से लौट कर रेल लंडीखाना पहुँचती है। मिचनी कंडाव से आगे का मार्ग और दूर तक का खुला दृश्य दीखता है जिसमें तूरखम का टीला ही थोड़ा अवरोध करता है। पश्चिम जाती हुई घाटी क्रमशः उत्तर-पश्चिम को मुड़ती है, अतः मिचनी की अपेक्षा उस के दूसरी (दक्षिणी) पार पिसगाह के दुर्ग से अधिक दूर तक का स्पष्ट दृश्य दीखता है। वहाँ से शेराबाद की अफ़गान छावनी और उस से आगे काबुल नदी की दून के फलों के बाग भी दीखते हैं।

उतार कुछ हल्का हुआ, थोड़ी-सी सीधी दौड़ लगा कर गाड़ी एक सराय के सामने से दाहिने को मुड़ी ही थी कि जोर से ब्रेक लगा कर रोक दी गयी। दायें को उसी अभ्रक-से पपड़ीले पत्थर का छोटा-सा टीला, बायें को झरने के पार सीधी पसली का गर्वीला काला पर्वत शृंग जिस के अध-बीच से एक चूने की-सी रेखा तनिक आगे आ कर कँटीला तार बन गयी है। सँकरीली सड़क के ओर-छोर गड़े हुए दो कँटीले तारों से मढ़े खम्भे; परले ठिये में कँटीले तार के बाड़े में काँधे-बन्दूक एक अजनबी सन्तरी,—वरले ठिये के पास मोटी सुई-सा दुम्मट और उस के बराबर कँटीले तार के ऊपर झाँकती, बे-शऊर विज्ञप्ति—भारत का सीमान्त···

'फ्रंटियर आफ़ इंडिया : ट्रैवेलर्स आर नाट परमिटेड टु पास दिस नोटिसबोर्ड अनलेस दे हैव कम्प्लाइड विद द पासपोर्ट रेगुलेशंस।'

(भारत की सीमा : यात्रियों को इस विज्ञप्ति से आगे बढ़ने की अनुमति नहीं है जब तक कि उन्होंने पासपोर्ट के नियमों की पूर्ति न कर दी हो।)

जहाँ सब कुछ कँटीला है, वहाँ देह भी कंटकित क्यों न हो आये? यायावर बहुत देर तक सारे दृश्य को देखता रहा। फिर उसकी आँखें तूरखुम के गर्वीले श्यामल उभार पर केन्द्रित हो आयीं। यह हमारे देश का मर्यादा-पर्वत है, देश की सीमा उस की मर्यादा है और सीमा की रक्षा देश की मर्यादा की रक्षा है...चुपचाप खड़े-खड़े यायावर के मन में फिर रोयरिक के उस चित्र की याद ताज़ी हो आयी—इस दृश्य में 'घर' नहीं है, लेकिन उसे आँख भर देख कर हृदय में बसा लो, क्योंकि उस के कारण ही घर जहाँ हैं वहाँ घर हो सके हैं—वह मर्यादा जो है...और यह सोचते हुए उस के भीतर युगों के संस्कार, शताब्दियों की सांस्कृतिक परम्पराओं के तार, धीरे-धीरे स्वनित हो उठे; भारत का भारतत्व, उस का प्राणतत्त्व बोलने लगा। भारत, नीचे क्षितिज-स्पर्शी असीम सागर से वेष्टित और ऊपर नभ-चुम्बी हिमालय के अंचल से छादित, जिस की अपनी सीमाएँ छूती हैं एक खड़ी परा-सीमा को और एक पड़ी परा-सीमा को; जो भा-रत हो कर, आलोक की खोज में लवलीन रहा है और जिसने कहीं से भी आती हुई प्रज्ञा-किरणों को स्वीकार किया है और अपने विमल मानस में धारण कर के और चमका दिया है, जिसने अनेकता में एकता पायी है क्योंकि वह अपनी एकता में अनेकों को अपना सका है, सह सका है—'प्रिय प्रियायार्हसि देव सोढुम्!'

और जो आगे भी सह सकता है, जो आगे भी अनेकता में एकता को उद्भावित कर सकता है क्योंकि वह एकता में अनेकता को पनपने दे सकता है, जैसे एक उद्यान में अलग-अलग आलवालों में अलग-अलग पौधे, अपने-अपने मालंच पर आधारित नाना-रूप लताओं के गुल्म बढ़ते, फूलते और फलते हैं...भारत की संस्कृति एक जड़ धातु-पिंड नहीं है, फिर चाहे वह धातु स्वर्ण ही क्यों न हो, वह निधि है जिस की मंजूषाओं

में नाना रत्न संग्रहीत हुए हैं, और होते रहेंगे; वह एक परम्परा है जिस में मानव का ज्ञानालोकित उद्योग कड़ी-कड़ी जोड़ता रहा है, और जिस का सजीव प्रसार काल के विस्तार को कौली भर कर भेंटने की स्पर्द्धा करता है...

इस से क्या कि इस मर्यादा-पर्वत का नाम तूरख़म है? इस से क्या कि उस से भी उपरली तरफ़ जो गान्धार-युगीन दुर्ग है वह आज काफ़िर-कोट नाम से प्रसिद्ध है, जब कि जिस काल में उस का निर्माण हुआ होगा, उस में कुफ़्र की उद्भावना करनेवालों का ही आविर्भाव न हुआ था, और अफ़ग़ानिस्तान और रूस के शिखरों का सिंहावलोकन करने वाला वह दुर्ग षट्पारमिताओं की साधना का प्रतीक था, जिन में सर्वश्रेष्ठ है प्रज्ञा-पारमिता? उठना और गिरना, बनना और मिटना, पाना और खोना, हर पारमिता की साधना में निहित है, किन्तु अनुभव की लौ के लिए यह सब ईंधन है; इस समिधा से वह पूताग्नि प्रज्वलित होती है और मानव पारमिताओं के निकटतर पहुँचता है। जा बढ़ता है वह पत्ते झारता ही है, केंचुल छोड़ता ही है, चोला बदलता ही है, द्विदल फोड़ता ही है...

'मैं वह हूँ जिसने आरम्भ किया,
मुझ से युग प्रसूत होता है,
मुझ से ही पुरुप और परमेश्वर,
मैं एक और सम्पूर्ण हूँ:

परमेश्वर बदलता है, और पुरुप, और उन के रूपाकार बदलते हैं,
मैं प्राण तत्त्व हूँ।

'मुझसे ऊपर या आगे
जाने का मार्ग नहीं है,
मुझे प्रेम करो या अप्रेम
जानो या न-जानो,

मैं ही हूँ जो मुझे प्रेम या अप्रेम करता है, जानता या न जानता है।
मैं आक्रान्त हूँ और मैं ही आक्रमण भी।

'मैं वह वस्तु हूँ जो पुनीत बनाती है—
मेरी साँस क्षान्ति है,
मेरा ही स्पर्श सहलाता है
अरूप हाथों से
मेरे अजात अंगों को जिन का व्यास सीमाओं को नापता है
भाग्य के विस्तार की।

....

'विश्वास एक रूढ़ि है,
राजमुकुट तामस हैं,
ईश्वर एक यही बात है—
पूरी सामर्थ्य के साथ मानव होना:
प्राणों के सम्पूर्ण बल के साथ सीधा विकसित होना, प्रकाश की
तरह जीना।

'मैं तुझ में हूँ तेरी रक्षा के लिए
यह मेरा स्वर तेरे भीतर बोलता है:
तू दे, जैसे कि मैंने तुझे दिया है
अपना जीवन-रस और अपने प्राण,
अपने कर्म के हरित पत्र, अपने ज्ञान के शुभ्र सुमन, और अपनी
मुक्ति के लाल फल।

....

मैं हूँ वह बहुमूल तरु
जो आकाश तक फैलता है,
लाल फलों की झालर वाला
जीवन-तरु मैं हूँ,
तेरे जीवन के कोरकों में भरता है मेरी धमनी का रस,
जीवन मेरा है।

'किन्तु तेरे बनाये हुए देवता
जो लेते हैं और देते हैं,
जिन की कृपा और अकृपा
हँसती और डँसती है,
ये कीड़े हैं जो पलते हैं झरे हुए वल्कल में, इन की मृत्यु है,
जीवन नहीं।

'मेरा भार दुर्वह है
जितना तू जान सकता है, उससे 'अधिक,
और मेरे विकास का कोई पुरस्कार नहीं
स्वयं उस विकास के अलावा
किन्तु मैं स्खलित नहीं होती विकास के पथ से,
न ऊपर कड़कते वज्र से, न नीचे कुलबुलाते कृमि-कीट से!

स्विनबर्न के पृथ्वी-स्तोत्र के पद यायावर के मन में गूँजते रहे—इसे उसने बन्दी जीवन के एकान्त में बीसियों बार पढ़ा था और प्रायः पूरी कविता उसे कंठस्थ थी...

क्या यह यात्रान्त है? नहीं। हरी-भरी पहाड़ी सर्वत्र मिल सकती है, किन्तु वह सर्वदा आगे रहती है; और मानव पंचीभूत हो कर ही उसे आत्मसात् करता है, उस का सुर पृथ्वी के सुर में लीन होता हुआ कहता है कि मैं ही वह हरी पहाड़ी हूँ—

'मैं हूँ कर्म और कर्ता, बीज और कृषक, मैं वह पुनीत धूल जो ईश्वर है!'

और इस प्रकार तूरखम से गाड़ी फिर वापस मुड़ी, और टायर फिर घूमने लगा। लंडीकोतल से चाय पी कर चले तो दिन छिप गया था। रात में खैबर पार कोई नहीं जाता और दल में कोई स्त्री हो तो दिन में भी ब्रितानी अफ़सर शस्त्र-सज्जित रक्षक टुकड़ी साथ लेते हैं; पर यायावर तो अजातशत्रु होते हैं...

यथा द्यौश्च पृथ्वी च न बिभीतो न रिष्यतः
एवा मे प्राण मा बिभेः।
यथाहश्च रात्री च न बिभीतो न रिष्यतः
एवा मे प्राण मा बिभेः॥
यथा सत्यं चानृतं च न बिभीतो न रिष्यतः
एवा मे प्राण मा बिभेः।
यथा भूतं च भव्यं च न बिभीतो न रिष्यतः
एवा मे प्राण मा बिभेः॥

ऐसे ही मेरे प्राण निर्भय हों,—यह प्रार्थना भी है और आशीर्वाद भी है।





ल्यावस्था में अंगरेजी लेखक राइडर हैगर्ड का एक रोमांचक उपन्यास पढ़ते हुए जब नायक के विषय में की गयी किसी की भविष्यवाणी पढ़ी थी कि 'डेथ विल कम टु हिम स्विफ्टली ओवर द वाटर्स', अर्थात् जलविस्तार के पार से उन का काल द्रुत वेग से आयेगा,—तब एक सनसनी शरीर में दौड़ गयी थी। उस समय नहीं जान पाया था कि क्यों, और पीछे ग्रह-फल में यह पढ़ कर भी कि पानी से संकट है, इस बात का कोई सम्बन्ध जलजात दुर्घटनाओं की चर्चा से होने वाले रोमांच के साथ नहीं जोड़ा था। पर अब जानता हूँ कि जल के साथ जीवन के बहुत से अनुभव—कुछ प्रिय, कुछ अप्रिय, पर सभी स्मरणीय—सम्बद्ध हैं। और जिस अभियान की बात आज याद कर रहा हूँ, उस की तो एक-एक स्मृति पानी से भींगी हुई है—पानी कभी चंचल फेनोर्मिल, कभी निष्कम्प गम्भीर, कभी आकुल वाष्पायित, कभी कलकल प्रपतित, कभी असंलग्न हिमवेष्टित नीरव''यद्यपि उस की योजना में जब विश्वविद्यालय के वैज्ञानिक अन्वेषी दल की सदस्यता सहर्ष स्वीकार की थी, तब विद्यु-द्दर्शक-अन्वीक्षक-प्रकाशचित्र ग्राहक यन्त्रों के मरुस्थल में पानी की कुल्या की झाँईं तक न दीखी थी।

किन्तु, बात लाहौर से आरम्भ करना व्यर्थ होगा। वहाँ से कार्यक्रम निर्धारित कर के चला था अवश्य, पर रावलपिंडी-कोहमरी-दुमेल होता हुआ कश्मीर पहुँचा था सैलानी के रूप में ही। दुमेल में बस रुकी तो आगे चलने का तनिक भी आग्रह न किया था, बल्कि रात वहीं ठहरने की सलाह दी थी (गाड़ी माल ले जा रही थी, सामने की सीट पर अकेला सवार था)। नया-नया विज्ञान का ग्रेजुएट था,—विद्यार्थीगिरी की आदतें छोड़ कर नौकरी के उम्मीदवारों की टीमटाम करने की बात अभी सूझी ही न थी; दुमेल के डाकबँगले का मार्ग न पूछ रस्सों के पुल से झेलम-पार मुजफ्फ़राबाद में गुरुद्वारे में रात काटी (गुरुद्वारे के किरपानधारी

खटमलों का पता तो देर रात को चला जब भाग खड़े होना सम्भव न था !) और फिर वेगवती कृष्णगंगा में स्नान कर के बस में जा बैठा। झेलम के साथ लुका-छिपौवल करती सड़क पर उड़ी-बारामूला पार कर, पाटन के मन्दिर के पास से गुज़रते हुए, और मन-ही-मन राह से कुछ दूर शादीपुर की सड़क पर परिहासपुरा के बौद्ध अवशेषों की याद करते हुए, अपराह्न श्रीनगर पहुँच गये। श्रीनगर और आसपास का प्रदेश बचपन का परिचित था; श्रीनगर के लिए विशेष उत्साह बचपन में भी नहीं रहा था और अब जब आ कर देखा कि तब की बड़ी-बड़ी चीजें छोटी-छोटी लगने लगी हैं, पहले की नौ सौ निन्नानवे गन्धों का स्थान अब तक एक हज़ार एक गन्धों ने ले लिया है, हतबियों के चेहरे कम उजले और पैरहन कहीं अधिक मैले हो गये हैं, और जो कमल के फूल पहले यों ही लूट कर एक 'शिरसा-धार्य' विभूति रहते थे, अब बिकने लग कर हेच हो गये हैं—तब बची-खुची स्फूर्ति भी जाती रही। केवल एक उदास नंगी जगह जिस की पुकार की प्रेरणा अब भी दुर्निवार है, फिर जा देखी—हरमुख शृङ्ग की अधित्यका पर बना हुआ परीमहल, जिसने अपने को चारों ओर से दीवारों में समेट कर आकाश के प्रति खोल दिया है, और जिस के आगे श्रीनगर का सारा सौन्दर्य बिछ गया है...कवयित्री बेगम ज़ेबुन्निसा का यह महल[1]—(परीमहल यों जलविहार के लिए बना होगा, वहाँ जलप्रणालियों के अवशिष्ट अभी हैं, यद्यपि पानी का निशान भी नहीं रहा, और बहते पानी का कल-कल कितना सान्त्वनाप्रद होता है, इस की गवाही अनेकों कवि देते हैं।[2]) कभी कितने चाव के साथ बनवाया गया होगा

१ ऐसा सुना है, यद्यपि इस प्रसिद्धि की ऐतिहासिकता की पड़ताल नहीं की।

२ ज़ेबुन्निसा ('मख्फ़ी') ने लिखा है

ऐ आबशार नौगहार अज़ बहरे चीस्ती
चीं बर जिबी फ़िगंदा ज़ि अंदोह कीस्ती
आया चि दर्द बूद कि चूँ मा तमाम शब
सर ए ब-संग मीं ज़दी ओ मी गरीस्ती !

—आसपास के सजे-सजीले रूप से उतना ही पृथक् जितना कि अन्तर्मुखी ज़ेबुन्निसा अपने परिमंडल से पृथक थीं—वैसा ही पृथक्, और वैसा ही रूप-प्रसार को तटस्थ भाव से ग्रहण करने की शक्ति के कारण सुन्दर! यह सूखा परीमहल, जहाँ प्यास मिटाने के लिए पानी नीचे से साथ ले जाना पड़ता है; और सामने फैला हुआ पानी—पानी—पानी! क्या यह विडम्बना है जेबुन्निसा के अपने अतृप्त जीवन की, जो भीतर भावनाओं का सम्पन्न संसार लिये हुए बाहर केवल आह भर कर कह सका:

हमदमे गर नेस्त ऐ दिल, रोज़े-मेहनतगो म बाश
यूनिसे ज़िंदाँनिया रा बहतर अज़ दीवार नेस्त!
लज़्ज़ते-दर्दे-मुहब्बत रा ज़िबेदरदाँ मयुर्स
क़दरे-सेहतरा नदानद हर कि ओ बीमार नेस्त!
जादमे दरदैनो अज़ खूने जिगर परवरदा ऐम—
कोह हा-ए-ग़म अगर आयद मरा आज़ार नेस्त!

तेरा अगर कोई साथी नहीं है तो, ऐ मेरे दिल! चिन्ता न कर। बन्दी-गृह में दीवारों से अच्छा नातेदार और कौन होगा! प्रेम की व्यथा का आनन्द उन से न पूछ जो बेदर्द हैं। जो बीमार नहीं वह स्वास्थ्य का मूल्य क्या जानेगा?

वेदना से मैं जनमी, और जिगर के खून पर पली; सामने अब दुःख के पहाड़ भी हों तो मुझे क्या डर!

उस के बाद श्रीनगर छोड़ कर सीधे गुलमर्ग की राह पकड़ी। वास्तविक अभियान यहीं से आरम्भ होता है।

ऐ निर्झर! तू क्यों रोता है, क्यों तेरे माथे पर व्यथा की रेखाएँ खिंच गयी हैं? तुझे ऐसा कौन-सा दुःख है कि मेरी ही भाँति रात-भर पत्थरों पर सिर पटक-पटककर रोता रहा है?

गुरुपत्नी ने हँस कर कहा, "मैं तो यह बिलकुल नहीं मानती कि तुम इन के अनुगत हो कर आये हो और इन के नेतृत्व में अन्वेषण करने जा रहे हो। मैंने तो इन्हें तुम्हें सौंपा, और तुम से वसूल कर लूँगी।"

मैंने कहा, "आप निश्चिन्त रहें, मैं गुरु की भरसक सेवा करूँगा।"

उन्होंने फिर कहा, "उँहुक्! तुम इन्हें आज वज़न कर के देख लो। मैं वज़न लिख लेती हूँ। और लौट कर आवें तो तौल में कम न हों, समझे? तुम इन्हें बता दिया करना कि कब खाने का समय हो गया, कब हजामत बनाने लायक हो गयी, कब गर्म कपड़ा पहन लें, कब..."

गुरु जी ने व्याज-गाम्भीर्य के साथ कहा, "देखो, मरियम, यह समझेगा कि तुम्हारे तीन बच्चे हैं।"

गुरुपत्नी ने ज़रा भी अप्रतिभ न हो कर उत्तर दिया, "तीन क्यों, वे दोनों तो तुम्हारे हैं; मेरा तो एक ही बचा है, बिल्कुल भोला बाबा।" फिर मेरी ओर उन्मुख हो कर, "समझे वत्स? हां तो तुम भी इन्हीं के शिष्य, पर मैं जानती हूँ तुम्हें भौतिक-शास्त्र के बाहर की भी बहुत-सी बातों में रुचि है।"

यहाँ गुरु-दम्पति का कुछ अधिक परिचय दे देना उचित होगा। प्रोफेसर ब—मेरे भौतिक विज्ञान के अध्यापक रहे। भौतिक विज्ञान के अतिरिक्त मिशन संस्था से सम्बद्ध होने के नाते उन्हें ईसाई धर्म-शिक्षा के लिए भी कुछ वर्ग लेने पड़ते थे, और मैं भी उन्हीं के वर्ग में था, पर उन्होंने हम में से कभी किसी से अपने-अपने धर्म से अलग किसी ईसाई धर्म के सिद्धान्तों की बात कही हो, ऐसा मुझे याद नहीं। इस के प्रतिकूल राधाकृष्णन् के 'हिन्दू-जीवन-दर्शन' का विशद और सटीक अध्ययन हम लोगों ने उन की 'बाइबल क्लास' में ही किया, वहीं कुङ्फुत्से और लाओ-त्से, बुद्ध और शंकर, पास्कल और स्पिनोज़ा के विचार-दर्शन से परिचय प्राप्त किया। 'अपने धर्म का विवेकपूर्ण अनुसरण ही सच्ची ईसाइयत है', यह वह प्रायः कहा करते थे। कभी-कभी यह भी कहते कि 'मुझ से आशा की जाती है कि मैं अधिकाधिक ईसाई बनाऊँगा। अभी

मैं नहीं जानता कि तुम में से कौन ईसाई है और कौन नहीं, पर अगर कभी कोई धर्म बदल कर मेरे पास आयेगा तो इतना मैं जान लूँगा कि कम-से-कम वह ईसाई नहीं है।' प्रायः उन की 'बाइबल क्लास' में लाहौर आने-जाने वाले वैज्ञानिक आ कर आधुनिक दार्शनिक विचारों और ऊहा-पोह का कुछ परिचय हमें दे जाया करते। डाक्टर (अनन्तर सर) शान्तिस्वरूप भटनागर के 'द थर्मोडायनेमिक्स आफ़ गॉड' पर किये दो-तीन भाषणों से उत्पन्न होने वाली हलचल मुझे अब भी स्मरण हो आती है। गुरुजी ने ईसाई मत की व्याख्या की थी तो केवल 'प्रातिनिधिक शोध'[3] के सिद्धान्त की, जिसे वह मानव-जीवन का एक महान् सत्य मानते थे और जो उन की समझ में अहिंसा के सिद्धान्त का मूलाधार था।

किन्तु, भौतिक विज्ञान का शोध उन के जीवन की साधना थी। सत्य की खोज और निर्धारण के प्रति उन की उत्कट लगन ने ही एकाधिक बार उन के स्वास्थ्य को चौपट कर दिया था, और फिर उसी की तन्मयता ने यक्ष्मा से उन्हें उबार लिया था, यद्यपि उस की छाप उस के फेफड़ों पर रह गयी थी...उन के छरहरे शरीर में अपरिमित स्फूर्ति थी, पर चेहरा सदा खोया सा रहता था, और विचारों की उलझन में उन्मन रहने का एक लक्ष्य परिणाम यह हुआ था कि उनकी दाहिनी भौंह सदा बायीं से ऊँची रहती थी और एक तिरछा बल माथे पर सर्वदा पड़ा रहता था।

यों तो गुरुजी सर्वदा प्रयोगशाला या यन्त्रशाला में कुछ बनाते-बिगाड़ते रहते थे; पर भौतिक विज्ञान में उन की विशेष रुचि थी वैद्युतिक किरणों की ओर। मैंने जब भौतिक विज्ञान में आनर्स के लिए विशेष अध्ययन का विषय निर्दिष्ट कर देने को कहा, तब पहले उन्होंने मुझे बेतार-किरणों का का विषय दिया (जिस के लिए मैंने लाहौर के विभिन्न स्थानों में साथ-साथ चुम्बकीय आकर्षण और बेतार-यंत्र की ग्राहकता के नाप लिये और उन की

३ ईसाई धर्म का यह सिद्धान्त कि एक के पाप की शुद्धि दूसरे की तपस्या अथवा कष्ट-सहन द्वारा हो सकती है,—जिसका ज्वलन्त उदाहरण मानवता के पाप-मोचन के लिए ईसा का सूली को वरण करना है।

परस्परता की छान-बीन की); फिर—कदाचित् मेरी परिश्रमशीलता के बारे में आश्वस्त हो कर—अपने विशिष्ट विषय कॉस्मिक किरणों पर कुछ काम करने को कहा। परीक्षाकाल में टायफ़ॉयड से पीड़ित होने के कारण आनर्स की व्यावहारिक परीक्षा में मैं न सम्मिलित हो सका। किन्तु, मेरे कार्य से सन्तुष्ट हो कर उन्होंने परीक्षा के बाद मुझे अपने सहकारी का काम दिया। वह कई वर्षों से डाक्टर काम्प्टन (अनन्तर नोबेल पुरस्कार-विजेता) के साथ कॉस्मिक किरणों का शोध कर रहे थे, और उस के लिए एक वर्ष पूर्व डा० काम्प्टन के साथ कश्मीर जा भी चुके थे। इस वर्ष डा० काम्प्टन अमरीका में ऊँचे तल पर वायुमंडल में माप ले रहे थे (गुब्बारे आदि के द्वारा), और पानी की गहराइयों में माप लेने का काम मेरे गुरुजी के सिपुर्द था। वर्ष भर वे यन्त्रादि तैयार करते रहे थे, अब पंजाब विश्वविद्यालय ने साहाय्य रूप में वैज्ञानिक सामान की ढुलाई का खर्च उठाने का वचन दिया था। यन्त्र बनाने आदि के लिए शिकागो विश्वविद्यालय ने सहायता दी थी। अब केवल अपने-अपने मार्ग-व्यय और खाने-पीने की बात थी, सो उस की चिन्ता उन्हें थी ही नहीं; और मैं भी साथ जाने को राज़ी ही नहीं, उत्सुक भी था। इसी लिए मैं पहले से कश्मीर चला गया था; यहाँ ठहरा था कि वह गुलमर्ग के नीचे टंगमर्ग में सप्ताह भर विश्राम कर लेंगे और जब चलेंगे वहीं मैं आ मिलूँगा।

इस परिचय से गुरुपत्नी की चिन्ता का कारण स्पष्ट तो नहीं होता, पर उस का कुछ संकेत तो मिल जाना चाहिए। गुरुजी धुनी थे, ऐसे धुनी कि उन्हें सनकी कहा जा सकता है। काम में उन्हें खाने-पीने का होश न रहता। कपड़े उन के अच्छी काट के होते, जिस का श्रेय पत्नी को था; पर कॉलेज में कभी वह अनजाने टाई ढीली कर लेते तो वह खुली ही लटकती रहती; मोजे वह प्रायः उलटे या बेजोड़ पहनते। दोपहर को खाने की छुट्टी में वह खाना मेज़ पर रख कर भूल जाते। उन दिनों उन्होंने एक विद्युत्-घडी बनाई थी और इस धुन में थे कि वह केवल एक निर्दिष्ट समय पर नहीं, वरन् प्रत्येक 'पीरियड' के बाद एलार्म बजा दे—जिस दिन

५५ मिनट का पीरियड हो, उस दिन प्रत्येक ५५ मिनट पर; जब ४५ का हो तब ४५ मिनट पर; ३५ का हो तो वैसे ही। और जिस दिन कालेज की छुट्टी होती और घंटे न बजते, उस दिन घर जाने की ही सुध न रहती, और प्रायः पत्नी आ कर लिवा ले जातीं। उन्मन इतने रहते कि गणित के बुनियादी सिद्धान्त भूल जाया करते, साधारण अंक-गणित के लिए भी 'स्लाइड रूल'[४] बरतते और उस के द्वारा ८×८= ६३.९९ पा कर हम लोगों के हँसने पर ज़रा भी विचलित न होते, क्योंकि 'वैज्ञानिक तथ्य क्या है? निकट अनुमानों की परम्परा'!

इन विशुद्ध वैज्ञानिक धुनों के अतिरिक्त उन्हें और व्यावहारिक धुनें भी थीं। एक पुरानी 'इंडियन' मोटर-साइकल उन के पास थी, जो बहुत सुश्रूषा चाहती थी, और पाती भी थी। इसे ले कर गुरुजी जब-तब कबाड़िये के यहाँ यन्त्रों के पुरजे और अन्य काम का सामान खरीदने जाया करते थे। लाहौर के सब कबाड़िये उस 'वहमी अमरीकन' को जानते थे। कबाड़ी के यहाँ से टाइमपीस ला कर उन्होंने एक घड़ी-कैमरा वैद्युतिक मापन के लिए बनाया था, कबाड़िये से लेंस ले कर दूरवीक्षक, कबाड़िये से किरमिच के टुकड़े खरीद कर अपने हाथों सी कर छोटे-बड़े तम्बू छोलदारी (पीछे हम इसी में रहे, और एक तम्बू माँग कर मैं बाद में और स्थानों पर भी अकेला घूमा), कबाड़िये से पुराने रबर के थैले ले कर तैरने वाले गद्दे (ये भी अनन्तर काम आये), एक छंटी बन्द होने वाली नाव, और अन्य कई चीजें...अनन्तर परिचय घनिष्ठ होने के बाद मैंने गुरुजी से उन के जीवन के बहुत से अनुभव जाने और उन से शिक्षा ग्रहण की। उन्हीं से सीखा कि सर्दी बहुत हो और कम्बल न हो तो दो (चाहे पतली) चादरों के बीच में अखबार की तह दे कर ओढ़ ले, काम चल जायगा। उन्होंने कैनाडा के एक काठ-गोदाम में लकड़ी ढोने का

---

४ पट्टियाँ, जिन की सहायता से गणित की प्रक्रियाएँ सीधे-सीधे न कर के अंकित लघु-गणकों के द्वारा सिद्ध कर ली जाती हैं—इन में उसी सीमा तक सन्निकटीकरण होता है जिस तक कि गणक में रहा हो।



फ़िरोजपुर नाले से नंगा पर्वत का दृश्य

काम कर के अपने पढ़ने से साधन जुटाये थे, वहाँ तो सर्दी में यही युक्ति काम देती थी;—बुरादे पर अखबार बिछा कर सोते, एक कम्बल और चादर की तह में अखबार दे कर ओढ़ते। उन्हीं से जाना और फिर परीक्षा कर के देखा, कि साँप को निहत्थे मारने का उपाय यह है कि निष्कम्प फुर्ती से उस की पूँछ पकड़ कर झटक दे, इस से उस की दुर्बल रीढ़ की कड़ी-कड़ी अलग हो जाती है; पर ज़रा-सी झिझक घातक हो सकती है। यह युक्ति उन्होंने अमरीका के मरु-प्रदेशों में सीखी थी, जहाँ विषैला 'झुनझुनिया' साँप (रैटल स्नेक) बहुत होता है।

एक बात उन से और सीखी, वहीं टंगमर्ग में। इसी लिए यहाँ उल्लेख कर देता हूँ, नहीं तो वह अप्रासंगिक है। मेरे जाने के दूसरे दिन वह मुझे ले कर मोटर के अड्डे पर गये—उन्हें एक चिट्ठी श्रीनगर भेजनी थी और डाक में छोड़ने से देर न हो इस लिए किसी को दे देना चाहते थे।

मोटर में एक आदमी को पत्र दे कर उन्होंने उसे श्रीनगर पहुँच कर डाक में डालने को कहा—वहाँ से वहीं पत्र उसी दिन बँट जायगा। यात्री ने पत्र ले कर जेब में डाल लिया, तो उस से फिर बोले, 'इसे सँभाल कर रख लीजिएगा—इस में बीस रुपये के नोट हैं। मैंने श्रीनगर से कुछ सामान जरूरी मँगाया है, दूकान को आर्डर और रुपये भेज रहा हूँ।"

यात्री ने पत्र बाहर की जेब से निकाल कर अन्दर की जेब में रख लिया और कहा "आप बेफ़िक रहें, मैं एहतियात से चिट्ठी डाल दूँगा।" मोटर चली गयी।

मैंने गुरुजी से पूछा, "उसे यह बताने की क्या जरूरत थी? वह चिट्ठी न जाने—खोल ले तो?"

"मेरी चिट्ठी अवश्य पहुँच जायगी।"

"मुझे तो सम्भावना नहीं दीखती। एक तो यात्री यों ही चिट्ठी डालना भूल सकता था, फिर आप ने उसे बताया कि उस में रुपये हैं। फिर चिट्ठी भेजी है दूकान को। वह कहे कि चिट्ठी नहीं मिली तो क्या सबूत? या कि चिट्ठी मिली और उस में रुपया नहीं था तब? बल्कि

यह तो सचमुच हो सकता है—अगर यात्री निकाल ले तो! तब आप जान ही न पावेंगे कि उड़ाया किसने!"

मैंने तो बता देना ठीक समझा। मानव का विश्वास करना चाहिए।"

"हाँ, लेकिन धोखा तो हो ही सकता है।"

"जिस का विश्वास न करें वह धोखा दे सकता है। विश्वास पा कर धोखा देना आसान नहीं है।"

"आसान न सही; पर आप का रुपया निश्चय ही गया अब।"

"तो जाय। रुपया कभी-कभी ही जायगा, हमेशा नहीं। फिर एक बार रुपया खो कर मुझे अधिक-से-अधिक तीन दिन दुःख होगा, और क्या? मगर मानव में विश्वास खो कर तो सारा जीवन दुःखी हो जायगा, यह तुम नहीं सोचते? लेकिन तुम देखना, रुपया खोयेगा नहीं।"

मैं चुपचाप उन के मुँह की ओर देखता रहा। भीतर कहीं, मन ने उन की बात पकड़ ली, गाँठ बाँध ली।

चौथे दिन श्रीनगर में उन की चिट्ठी मिली, जिस में यह भी लिखा था कि उन का मँगाया हुआ सब सामान ठीक समय पर पहुँच गया है।

❀ ❀ ❀

टंगमर्ग से घोड़ा ले कर गुलमर्ग, फ़िरोज़पुर नाला और खिलिनमर्ग देख आया, और नंगापर्वत के विराट् सौन्दर्य की झाँकी भी ले आया। गुलमर्ग अच्छा स्थान होता अगर वह विदेशियों द्वारा यों उपनिविष्ट न हो गया होता—कोई बात है कि वैसे स्थान के आकर्षणों में होटल, गॉल्फ़, टेनिस, नृत्य आदि सब गिनाये जायँ, और फ़िरोज़पुर घाटी के चीड़वनों, खिलिनमर्ग के हिमावेष्टित सरोवर और नंगापर्वत की भव्य रूपश्री की उपेक्षा हो जाय! फ़िरोज़पुर नाले के एक-एक प्रपात का रूप दर्शनीय है और कलकल मनःस्फूर्ति देने वाला...

श्रीनगर में अपनी आवश्यकताओं की सूची बना कर सामान जुटाना आरम्भ किया। अनुमान था कि तीन सप्ताह का अभियान होगा, आने जाने

का एक सप्ताह जोड़ कर एक मास की व्यवस्था आवश्यक थी सो पाँच सप्ताह के लिए ले रहा था। डिब्बे का जो सामान मिलता था—मटर, गाजर, नाना प्रकार के सूप, दूध, पनीर, मक्खन, घी, फल—वह तो लिया ही,—सूखे फल और मेवे, आलू, छोटे टिकाऊ सेव ('तरेल'), कच्ची रसद—आटा, दाल, चावल, चीनी, आदि भी उचित अनुपात में ले लिये। सफ़री सामान—खाट, मेज़, कुर्सी, लालटेन, मोमबत्तियाँ, घासलेट, बरसातियाँ लीं। तम्बू तो थे ही; खानसामा के लिए छोलदारियाँ, दो स्टोव, बर्तन आदि। कैमरा भी लाया था, गुरुजी के पास भी था। वैज्ञानिक यन्त्रादि पहले से तैयार रक्खे थे; किरमिच की नाव भी।

किन्तु वैज्ञानिक अभियान के लिए और भी व्यवस्थाएँ करनी पड़ती हैं। कोंसरनाग तक—जो हमारा लक्ष्य था—जाने के लिए शुपियाँ तक सड़क है, मगर पुल सब कच्चे हैं, उन पर मोटर चलाने का 'परमिट' लेना था। शुपियाँ से पैदल या घोड़े पर जाते हैं। घोड़े और कुली तो वहीं मिलेंगे, किन्तु तहसीलदार के नाम परवाना ले जाना होगा।

इस के लिए मालूम हुआ कि श्रीनगर के गवर्नर से मिलना होगा। राजधानी में राजा की विद्यमानता में गवर्नर क्या करता है, नहीं जानता था। पर रियासतों में अधिकारी काम करने को ही हों ऐसी कोई बाध्यता नहीं होती, यह जानता था। किन्तु, डेढ़ घंटे तक गवर्नर महोदय को इस वैज्ञानिक अभियान का प्रयोजन समझाने की चेष्टा कर के भी कोंसरनाग जाने की आवश्यकता सिद्ध न कर सका। क्या और कहीं कोई झील नहीं है, या कि समुद्र में गहरा पानी नहीं है, यों तो पानी के नीचे किरणें नापने में ही क्या तुक है, और विदेशी साइंसदाँ क्या कह कर क्या करते हैं इस का क्या भरोसा! हाँ, स्वयं यह जान सका कि गवर्नर वास्तव में जिला मजिस्ट्रेट का काम करने वाले अधिकारी हैं और शासन-सूत्र सर्वत्र दीर्घसूत्र होता है; उस की ऐंठन के प्रकार बदल सकते हैं, पर उस की दीर्घता नहीं। अन्त में मोटर शुपियाँ तक ले जाने की अनुमति तो मिली, पर "वैज्ञानिक मंडल" के लिए नहीं, सैलानियों के दल के लिए (जिस की

पड़ताल की आवश्यकता न पड़े) और इस शर्त के साथ कि प्रत्येक पुल पार करने से पहले मोटर खाली की जायगी और पार जा कर फिर लादी जायगी। (इस शर्त का हमने पाँचों-छहो पुलों पर पालन किया, केवल एक पर पूरा सामान न उतार कर केवल सवारियाँ और उन का निजी सामान उतारा गया था।)

क्रमशः पूरा दल श्रीनगर में एकत्र हो गया। गुरु-शिष्य के अतिरिक्त दो व्यक्ति इस में और थे—एक रसायन-शास्त्र के प्रोफेसर, दूसरे उन के भतीजे उद्भिज-विज्ञान के अध्येता, जिन्हों ने हाल में अपने विषय में एम० एस-सी० की परीक्षा सम्मानपूर्वक पास की थी, और जिन्हें बड़े जोशी जी और छोटे जोशी जी कहा जायगा। बड़े जोशी जी कश्मीर में कुछ औषधियों की खोज के लिए आये थे और वुलर झील के पार गिलगित-मार्ग में गुरेज़ में अपना अनुसन्धान पूरा कर हम लोगों के साथ मिल गये थे; छोटे जोशी जी को धुन थी कि जिस प्रकार उनके आचार्य डा० काश्यप ने हिमालय में पर्यटन कर के कई नये पौधों का पता लगाया था, जिन में एक-आध उनके नाम से अभिहित होते थे, उसी प्रकार वह भी वनस्पतियों की नयी जातियाँ खोज निकालेंगे, जिन में उन का नाम अमर हो जायगा। उन की विशेष रुचि सूक्ष्म पौधों की—काही, फफूँद, आदि—तथा अन्य उपजीवी (पैरेसाइट) और यन्त्रवीक्ष्य उद्भिजों की ओर विशेष थी, और वह यह भी सोचते थे कि भौतिक विज्ञान की खोज के साथ वह उच्च तलों के जलजात उद्भिजों पर भी कुछ अनुसन्धान कर लेंगे।

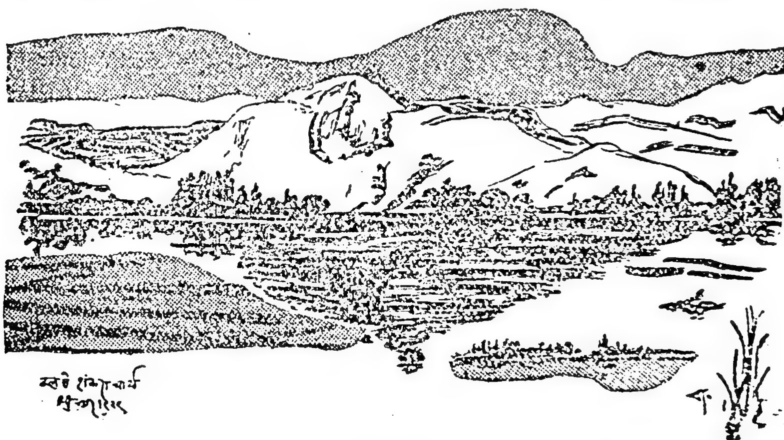
दल का पाँचवाँ सवार था खानसामा रहमत, जिस के चुनाव में विशेष परिश्रम करना पड़ा था। उस से पहले वर्ष गुरुजी डा० काम्प्टन

---

५ कश्मीर में आर्टिमीसिया और एफ़ीड्रा (सोम अथवा सोमकल्प) नामक दो वनस्पतियाँ पायी जाती हैं, जिन से क्रमशः सैंटोनिन और एफ़िड्रीन औषधियाँ प्रस्तुत होती हैं। सैंटोनिन कृमिनाशक है, एफ़िड्रीन श्वास रोगों की दवा है। बड़े जोशी जी इन्हीं दोनों के प्रस्तुत करने की नयी विधियों के शोध के लिए गुरेज़ गये थे।

के साथ उत्तरी कश्मीर की जिस झील पर गये थे, वहाँ उन का खानसामा बीमार हो गया था और नीचे लाते-लाते न्यूमानिया-ग्रस्त हो कर चल बसा था, जिस से खिन्न हो कर मंडल लौट आया था। इसी लिए इस वर्ष ऐसा आदमी छाँटा गया था जो अपने काम में नौसिखिया भले ही हो, स्वस्थ और कड़े शरीर का हो और उच्च पर्वतीय वायुमंडल को सह सके। रहमत ने खाना बनाने का अनुभव अपने पैंतालिस वर्ष के जीवन में दो-तीन वर्ष ही किया था, पर शरीर से वह स्वस्थ था, कान्ति से हँसमुख और तबीयत का फक्कड़—कश्मीरी के दर्शन का मूलमन्त्र 'कुछ फ़िकिर नेइ' उस ने घुट्टी में पिया था। कुछ शिकारी टोलियों के साथ बन्दूक-बरदार बन कर वह पहाड़ी अभियानों का काफ़ी अनुभव पा चुका था।

इस प्रकार जुलाई के दूसरे सप्ताह के एक दिन प्रातःकाल हम लोग श्रीनगर से निकल पड़े। आरम्भ में जम्मू की सड़क पकड़ी। यह सड़क मेरी बचपन की पहचानी थी। ज्यों-ज्यों हम बढ़ते जाते, त्यों-त्यों मेरी पुरानी स्मृतियाँ उभरती आतीं और मैं मनश्चक्षुओं से सड़क के इधर या उधर की तत्काल न दीखती वस्तुओं को देखता चलता...बायें को शंकरा-



शंकराचार्य

चार्य पर्वत, जिस के शिखर पर पिंजरे-सा शिव-मन्दिर—पाणिनि जैसे 'पीर शालातूरा' हो गये हैं, वैसे ही यह पर्वत 'तख्ते-सुलेमान' हो गया है! —कुछ आगे दाहिने को झेलम के एक बड़े प्रायवृत्त में राममुंशीबाग के बँगले, जिन में से एक में बचपन का निर्भय अंश बिताया था—वह अंश जिस में उभरते व्यक्तित्व की विपंची को प्रकृति की अंगुलियाँ रहस्य की शत-शत मिजराबों से झंकारती रहतीं...यहीं से बायें को वह मैदान जिसे कई टेढ़ी-सीधी पगडंडियों से पार कर के गुपकार और मुग़ल उद्यानों की सड़क पकड़ा करते थे, 'छोटे रास्ते' के नाम पर पराये बगीचों में घुस कर आलूचे, आड़ू, खूबानी, गिलास, सेब, नाशपाती जो मिल जाय चुरा कर खाते थे और कभी आहट पा कर माली के ललकारने पर भागने में गिर जाते थे और काही के हरे-पीले रंगों से सने कपड़े ले कर घर पहुँचते थे। मेरे भाई, मैं, पड़ोस के बँगले के दो बच्चे और कभी-कभी हमारी बड़ी बहन और उन की बड़ी बहन भी—यह पाँच अथवा सात का गिरोह बगीचों के आसपास मौके की ताक में मँड़राया करता था। प्रत्येक अपने 'निकर' की जेब में दियासलाई की खाली डिबिया में नमक, काली मिर्च और मसाला मिला कर तैयार रखता था। चोरी के फल यों तो अन्य फलों से कहीं स्वादिष्ट होते हैं, पर प्रायः कच्चे ही उपलब्ध होते हैं और कुछ बिनार-सँवार चाहते ही हैं। गिरोह की सांकेतिक भाषा में इस डिबिया को 'नमस्कारी' कहते थे—न नमक, मस् मसाला, इस का उपयोग नमस्कार; यह इस की परिभाषा थी, और जब हम लोग घूमने निकलने के पहले बड़ों को "नमस्कार" करते थे तब कनखियों से एक-दूसरे को देखकर मुस्कराते थे कि 'नमस्कार' तो अभी होगा!

और दो मील जा कर बायें को पांड्रेथन का छोटा-सा किन्तु सुन्दर शिव-मन्दिर। पांड्रेथन कदाचित् पुराणाधिष्ठान का भ्रष्ट रूप है—मन्दिर के चारों ओर वेत वृक्ष (वीपिंग विलो) मानो डालें नवा कर सहस्राधिक बरस पुराने इस अवशिष्ट को उदास प्रणति देते हैं। इस से आगे रास्ता खुल जाता है। दाहिने झेलम (वितस्ता, जिसे कश्मीरी

'वियत्थ' कहते हैं) और बायें शालिखेत—यों बढ़ते हुए हम लोग पामपुर (=पद्मपुर) पहुँचे। यहाँ के नानबाई अद्वितीय हैं। उन की परम्परागत विद्या का फल जिन्होंने नहीं चखा वे जान ही नहीं सकते कि निरी 'रोटी क्या चीज़ हो सकती है—'बाकरखानी' और 'शीरमाल' उन की विशिष्ट कृतियाँ हैं। हम लोगों ने अपनी यात्रा के लिए प्रचुर मात्रा में दोनों ले कर रख लीं—कुछ मीठे और नमकीन कुल्चे तो श्रीनगर से ही ले लिये थे। चाय के आनुषंगिक के लिए इस से बढ़ कर चीज़ नहीं होती।

पामपुर से जम्मू वाली सड़क छोड़ी। नदी पार कर के पूर्व से दक्षिण-पूर्व जाने लगे। यह कच्ची सड़क शुपियाँ तक जाती है, जो कि पीर पंजाल श्रेणी की उत्तरी उपत्यका में है। उधर से जम्मू आने का एक रास्ता भी है, जो पीर पंजाल और रतनपीर पार कर के नौशहरा-भीमबड़ जा निकलता है। यह मार्ग अत्यन्त रमणीक किन्तु दुर्गम है, सैलानी समुदाय इधर से नहीं जाता। कोंसरनाग पीर पंजाल का ही एक बड़ा सरोवर है। यह हम में किसी ने पहले नहीं देखा था, किन्तु नक्शा देख कर ही इसे अभियान के लिए चुन लिया गया था। इस से पहले वर्ष गुरुजी पहलगाँव से ऊपर तूलियन झील पर गये थे। वह इतनी गहरी और बड़ी न थी, यद्यपि वहाँ पहलगाँव से साहसिक घुमक्कड़ जब-तब चले जाते थे। उस की ऊँचाई भी केवल ९ हज़ार फ़ुट थी। नक्शे में कोंसरनाग की आकृति और उस के आसपास के पर्वतों के ढलाव से अनुमान हुआ कि यह बड़ी झील पर्याप्त गहरी भी होगी, और बस्ती आदि की बाधाओं से मुक्त तो वह थी ही। ऊँचाई लगभग १२ हज़ार फ़ुट थी। ऊँची और अलग-अलग झील ढूँढ़ने का कारण यह था कि वातावरण की धूल, धुएँ, धातु-कण, आसपास की इमारतों, यन्त्रों और यानों के सम्भव प्रभाव से मुक्त, विशुद्ध वातावरण में ही कॉस्मिक किरणों के स्वभाव, शक्ति, भेदकता, विकीरण आदि का अध्ययन किया जा सके।

बहुत दूर न गये थे कि रास्ते में कीचड़ आना शुरू हो गया, और पानी से ढके हुए गहरे गड्ढों के दचके लगने लगे। एक-एक गड्ढे में

'गच्च' से पहिया धँसता और हमारा हड्डी-पसली का ढाँचा हिल जाता। जोशी जी ने कहा, "इस तरह तो थोड़ी देर में ज़ोरों की भूख लग आयेगी, पेट का तो व्यायाम हो रहा है।" गुरुजी बोले, "बाकरखानी तुम्हें खानी हो तो माँग लो, पैंतरे की क्या ज़रूरत है!"

इतने में एक ज़ोर का धक्का लगा, थोड़ा-सा कीचड़ उड़ कर भीतर आया और इंजन बन्द हो गया। ड्राइवर ने फिर स्टार्ट कर के गाड़ी चलानी चाही—पिछले पहिये कीचड़ उछालते हुए घूम गये, गाड़ी न सरकी।

हम लोग कीचड़ में उतरे। गाड़ी ठेलनी चाही, पर कीचड़ काली मिट्टी का था, इतना चिकना कि हम पीछे फिसलते थे।

मुझे ऐसी स्थिति का अनुभव न था। गुरुजी के अतिरिक्त किसी को न था। उन्होंने रहमत से कह कर ऊपर लदा एक थैला उतरवा, उस में से छोटी कुल्हाड़ी और दो-तीन लोहे की साँकलें निकालीं। कुल्हाड़ी ले कर हम कुछ दूर पर के पेड़ों से डालियाँ काट-काट कर पहियों के नीचे बिछाने लगे, साँकलें अरों में से आर-पार पिरो-पिरो कर पहियों पर लपेट दी गयीं। अब गाड़ी चलाने पर साँकलों के अटकाव से गाड़ी कुछ आगे ठिली, और इस प्रकार थोड़ा-थोड़ा कर के डालें बिछा-बिछा कर उसे निकाला गया। पामपुर से रामू के छोटे कस्बे तक के दस-एक मील में कई बार गाड़ी फँसी और निकाली गयी; रामू से शुपियाँ के दस मील में कई बार खाली कर के पुल पार करा कर भरी गयी। शुपियाँ से लगभग दो मील पहले एक नाले का पुल टूट गया था। वहाँ शहतीर बिछा कर उन पर घास-फूस और बजरी डाल कर एक काम-चलाऊ पुल बनाया गया था, जो ठीक पहियों के फ़ासले जितना चौड़ा था। गाड़ी बिल्कुल खाली कर दी गयी, धीरे-धीरे पुल पर चढ़ायी गयी और गुरुजी दूसरे पार से हाथ के इशारों से ड्राइवर को पहिये घुमाने के बारे में आदेश देते रहे ताकि गाड़ी पुल पर बिल्कुल सीधी चली आये। अगले दो पहिये निर्विघ्न पार हो गये तो ड्राइवर का हौसला बढ़ा, उसने सहसा गाड़ी को तेज कर दिया, धक्का लगते ही पिछला एक पहिया पुल पर से फिसला—फिसला

कि गया, गाड़ी तिरछी हो कर टँग गयी। अगला एक पहिया पक्की धरती पर, एक अधर में, पिछला एक पुल पर, एक नीचे अधर में। हम लोगों ने आगे के उठे हुए कोने पर खड़े हो कर गाड़ी को दबा कर सीधा करने की चेष्टा की, पर अधिक जोर डालने से डर था कि गाड़ी का टट्टर टेढ़ा होने से इंजन न चटक जाय, इस लिए छोड़ दिया। एक मोटी डाल काट कर पिछले पहिये को उठाने की चेष्टा की, पर पुल पर खड़े-खड़े 'लीवरेज' न मिलता था, और इधर-उधर तो जगह कहाँ थी! आसपास कोई आदमी भी नहीं दीखते थे। अन्त में रहमत को भेज कर शुपियाँ से पन्द्रह-एक आदमी बुलवा कर गाड़ी को सामने रस्सी से खींचा गया और पीछे लकड़ी से उठा कर ठेला गया, तब कहीं वह निकली। हानि कुछ नहीं हुई, पर तीन घंटे उलझन में बीते और ड्राइवर के प्राण सूखते रहे। पन्द्रह रुपये मददगारों को भेंट चढ़े।

शुपियाँ की बस्ती रेम्बियारा नदी के पार थी। नदी के इस पार ही तम्बू लगाये गये, सामान आदि उतार कर गाड़ी को छुट्टी दी गयी। उस से तय तो यही हुआ कि वही फिर आ कर लिवा ले जायगा, पर लौटती बार अग्रिम सूचना भेज देने पर भी वह नहीं आया था और हम लोग रामू तक पैदल ही आये थे (वहाँ से ताँगे मिल गये थे) पर यह बाद की बात है।

तहसीलदार साहब से साँझ होते-न-होते मिल कर अगले दिन की व्यवस्था कर ली। माल के लिए लद्दू घोड़ों के अतिरिक्त दो सवारी के घोड़े भी बुलाये गये कि बारी-बारी से कुछ आराम मिलता रहेगा। कोंसरनाग यहाँ से है तो बीस मील अथवा दो पड़ाव ही, पर मार्ग सुगम नहीं है और दूसरे दिन तो ढाँटी चढ़ाई है। तहसीलदार से मालूम हुआ कि कोंसरनाग लोग जाते तो हैं, पर रात को वहाँ कभी कोई नहीं रहा, निचले पड़ाव कुंगवतन में जंगल-विभाग के बँगले में रह कर लोग दिनों-दिन कोंसरनाग हो आते हैं—'वहाँ है ही क्या—वीरान जगह है, न झाड़ न झंखाड़, तूफ़ान भी आते हैं। वहाँ तो गूजर भी नहीं रहते।'

जो हो। हमें तो वहाँ तीन सप्ताह रहना है, काम करना है।

❀ ❀ ❀ ❀

रेम्बियारा नदी पार कर के झुपियों में से होते हुए हम लोग खुले खेतों के प्रदेश में आ गये। खेत अधिकतर मकई के थे, बीच-बीच में जहाँ-तहाँ घास की हरियाली और अखरोट के पेड़। बस्ती के पास पेड़ थे, उन पर फल का नाम नहीं था, भुट्टे अपनी ललाती सुनहली जटाएँ झुलाते हुए मानों अटारियों से उझक रहे थे। खेत के पास से गुज़रते हुए मैंने और छोटे जोशी ने दो-एक तोड़े। बड़े जोशी जी ने कहा, "हैं-हैं, यह क्या करते हो ? बुरी बात है।"

मैंने कहा, "यह तो राह-चलतों का रूढ़ अधिकार है, इस में कोई बाधा नहीं देता।"

"लेकिन चोरी तो चोरी ही है।"

"क्यों, चोरी तब हो अगर मालिक को आपत्ति हो, या वह कर्म उस का अप्रत्याशित भी हो।"

"हुँ; यह सब हेतुवाद है।"

मैंने कुछ न कहा, भुट्टों का आकर्षण विवाद के आकर्षण से बढ़ कर होता है। दो भुट्टे मैंने गुरुजी को दिये, हम लोग खाने लगे। भुट्टे दूधिया थे और बहुत मीठे।

तनिक देर में बड़े जोशी जी बोले, "तुम बड़े दुष्ट हो जी! हमारे सामने चर रहे हो, हम से पूछा भी नहीं।"

मैंने कहा, "आपने तोड़ने से मना किया था, मैंने समझा कि आप नहीं खाते।"

"वाह! खाते क्यों नहीं।"

"तो तोड़ लीजिए न—सब तरफ़ तो भुट्टे ही भुट्टे हैं।"

"न—तुम तोड़ दो तो खाऊँगा। मैं चोरी नहीं करता।"

"मगर चोरी के फल खाने से परहेज़ नहीं, क्यों ?" गुरुजी ने कहा। "तब तो यह उचित है कि तुम्हारे हाथ से तुड़वा कर भुट्टे हम लोग खायें।"

हम सब हँसते रहे। पर भुट्टे मैंने तोड़ कर उन्हें दे दिये।

थोड़ी देर तक काफ़िला चुपचाप चला। लद्दू घोड़ों को आगे भेजा गया था, हमारे साथ सवारी के घोड़े चले आ रहे थे। रहमत आगे गया था, दो घोड़ों वाले हम लोगों के साथ थे।

बड़े जोशी जी सब की हँसी से कुछ अप्रतिभ थे। शायद बदले की सोच रहे थे। हठात् बोले, "अच्छा घोड़ों की सवारी कैसे होगी? मेरी राय है कि तुम पहले आधे में सवारी करो, हम उतरार्ध में।

मैं समझ गया कि यह प्रस्ताव क्यों किया गया है। उत्तरार्ध में टाँगें थक जायेंगी और रास्ता भी विकट होगा, तब वह सवारी कर के हमें पैदल चलाना चाहते हैं; अभी सीधा-सपाट हरियाला रास्ता है और सुहावना समय, अभी वे चल लेगें। मैं मन-ही-मन मुस्कराया। कहा "अच्छा! पूर्वार्ध मैं और गुरुजी, उत्तरार्ध जोशी-द्वय। ठीक है।"

गुरुजी भी ताड़ गये। बोले, "मैं राज़ी हूँ।"

दोनों जोशी भी सहमत हो गये।

हम दोनों घोड़ों पर सवार हुए। एड़ दी और घास से ढकी हुई पगडंडी पर सरपट दौड़ाते हुए ले चले। पहाड़ी टट्टू के नाल प्रायः नहीं देते, घास पर ही उन्हें सरपट दौड़ाया जा सकता है और इस का एक अद्भुत आनन्द होता है...

सेदाऊ गाँव में हम लोग क्षण भर रुके। कुछ अंडे खरीदे। फिर गाँव पार करके घोड़े दौड़ाना शुरू किया, किन्तु आगे पथ ऊँचा-नीचा और क्रमशः चढ़ता हुआ था, सरपट दौड़ाना सम्भव न था। थोड़ी देर में चीड़ के बन आ गये, जिन में जहाँ-तहाँ खुली जगहों में तम्बू लगाने के लिए चौतरे बने हुए थे। पहले वहाँ तम्बू लगते रहे होंगे। कुछ दूर पर एक बावड़ी भी थी, जहाँ से सोते का स्वच्छ पानी मिल सकता था। सैर के लिए आये होते तो अवश्य यहाँ एक-आध दिन रहते, पर हमारा ध्यान तो कौंसरनाग में केन्द्रित था...

कुछ और आगे फिर उतार शुरू हुआ, और थोड़ी देर में हमने विशुव नदी के पार सामान के घोड़ों को जा पकड़ा। एक झरने के पास थोड़ी खुली जगह में काफ़िला सुस्ता रहा था। हमारे घोड़े भी सरपट दौड़ से बिलकुल थक चुके थे; उन्हें हमने छोड़ दिया। यहाँ से मील-भर दूर हरिबल का जलप्रपात था, जिस के सौन्दर्य की प्रशंसा पथ-दर्शिकाओं में पढ़ रखी थी। रहमत को साथ ले कर और कुछ चाय का सामान ले कर हम दोनों वहाँ उतर गये। गुरुपत्नी की बनायी हुई अदरख की खताइयाँ भी थीं, हम लोगों ने चाय बना कर पी और फिर जलप्रपात के तले जा बैठे। प्रपात ऊँचा तो नहीं था, कोई ४०—५० फ़ुट होगा, किन्तु पानी बहुत था और स्थान भी अत्यन्त रमणीक। बड़े-बड़े श्वेत-हरित पत्थर, वैसा ही दूध और ज़हर-मुहरे के घोल-सा पानी, फेन के आवर्त्त और वन-सरस्वती का अप्रतिहत संगीत! घंटे भर बाद जब वहाँ से चलने को उठे, तब मैं बार-बार लौट-लौट कर देखता रहा। स्वर के साथ-साथ प्रपात का चित्र मेरे अन्तस् में बस गया था, और मैं मानों मुड़-मुड़ कर एक बन्धु को आश्वासन दे रहा था कि फिर आऊँगा, फिर आऊँगा...वह 'फिर आना' नहीं हुआ है, न जाने कभी होगा कि नहीं; किन्तु वह प्रतिश्रुति झूठ नहीं है, क्योंकि वह मनोभाव झूठ नहीं है। 'फिर आना' वास्तव में कभी होता ही नहीं, क्योंकि काल की दिशा में लौटना कभी नहीं होता। प्रत्येक आना नया आना होता है, घटना की आवृत्ति होती है, अनुभूति की नहीं...अनुभूति की आवृत्ति, पुनरनुभूति केवल स्मरण में है...

घोड़े सब सुस्ता चुके थे, काफ़िला चल रह था। रहमत को हमने आगे कर दिया और थोड़ी दूर बैठे कि जोशी-द्वेय आ जायँ। सवारी के घोड़े भी हमारे साथ रहे।

पहुँचते ही बड़े जोशी ने कहा, "तुम लोग यहाँ आराम करते रहे और हम धूप में चलते आये हैं। खैर, अब तुम चलना और हम घोड़े पर बैठे मुँह चिढ़ायेंगे।"

हम चुप रहे। घोड़े थक चुके थे, और आगे घना छायादार जंगल आ रहा था, और रास्ता अत्यन्त दुर्गम, और बीच-बीच में ऐसी करीं उतराई कि घोड़े की पीठ पर टिकना तो असम्भव ही होगा, घोड़े को बड़ी खुशा-मद कर के उतारना पड़ेगा...यह सब पहले से देखा नहीं था, पर नक्शे से जानते थे, और घोड़े थकाये तो थे ही—हम दोनों यों पैदल काफ़ी चल सकते थे और घोड़ों को सरपट दौड़ाने के शौकीन भी थे, सो एक आनन्द हम ले चुके थे और अब चीड़ के जंगलों में पैदल जाने वाले थे ही...

जोशीजी ने कहा, "चाय पी जा सकती तो अच्छा होता। सामान वाले घोड़े इतनी आगे चले गये।"

हमने कहा, "हमने तो पी ली।"

"कहाँ?"

"हम लोग हरिबल का प्रपात देखने गये थे, वहीं पी आये।"

"तो तुम लोग प्रपात भी देख आये! कितनी दूर है?"

"डेढ़ मील।"

जोशी जी थोड़ी देर हमें घूरते रहे। फिर बोले, "हम भी जायेंगे।"

गुरुजी ने कहा, "अब तो देर हो गयी। आगे रास्ता खराब है, कुंगवतन जल्दी पहुँचना चाहिए नहीं तो रात जंगल में खो जायेंगे। इस जंगल में काले रीछ भी बहुत होते हैं।"

यह बात यों तो सच थी, पर कही इस लिए गयी थी कि जोशी जी शेर से अधिक काले रीछ के नाम से घबड़ाते थे।

और दलील अनावश्यक थी। जोशी जी चल पड़े। बोले, "तुम लोगों ने खाने को कुछ नहीं रखा?"

गुरुजी ने कहा, "और तो कुछ नहीं, अंडे हैं। खाओगे?"

उन के अतिरिक्त हम तीनों निरामिषाशी थे। मैं अंडा खाने में कोई युक्ति-संगत आपत्ति नहीं मानता था, तथापि तब तक खाया नहीं था।

जोशी जी ने कहा "और कुछ नहीं !"

गुरुजी तनिक पसीजे, बोले, "थोड़ी सी कुकीज़ (खताइयाँ) दे सकता हूँ। एक पैकेट चाकलेट भी।"

"लाइये।"

किन्तु उस से कुछ नहीं बना। चलते-चलते सब खा कर जोशीजी फिर बोले, "तो लाइये, आज आप के सिर हम अपना धर्म भी छोड़ें। अंडे कहाँ हैं ?"

गुरुजी ने हाथ के झोले में से छः अंडे निकाल दिये।

"कच्चे—कच्चे तो हम नहीं खायेंगे।"

जो घोड़े वाला हमारे साथ था उस के पास एक अलुमिनियम का कटोरा था। उसी में अंडे उबाले गये। तोड़ने पर पता चला अंडे पुराने थे, उन में गन्धक की तीव्र गन्ध थी। जोशी जी ने जैसे-तैसे एक खाया। मुँह बिचकाते जाते और खाते जाते। दो खाने के बाद गुरुजी से बोले, "यही है अंडा जिस की इतनी प्रशंसा आप लोग करते हैं ? यही आप इतने चाव से खाते हैं ?"

"अच्छे अंडे स्वादिष्ट होते हैं, ये तो बासी निकले।"

जोशी जी ने नाटकीय ढंग से माथा ठोंक कर कहा, "धत्! हमारा धर्म भी लिया तो सड़े अंडे के दामों। हम यह भी कहने लायक न रहे कि चलो धर्म गया तो गया एक न्यामत तो चखी !"

मैंने धीरे से कहा, "इसी को तो कहते हैं गुनाह बेलज्ज़त।"

"तुम चुप रहो जी !" कह कर जोशी जी ने गुरुजी की ओर उन्मुख हो कर कहा, "आप ने अपने छात्रों को बहुत सिर चढ़ा रखा है। हम आप प्रोफेसर, ये दोनों छोकरे हम से मजाक करते हैं।"

चलते-चलते अचानक हम लोग ठिठक गये। घाटी के मोड़ के आगे खुली पहाड़ी, किन्तु यहाँ निरी घास नहीं, बीच-बीच में मीलों तक फैले

हुए फूल ही फूल ! इन में से कई एक फूल यत्नपूर्वक बगीचों में लगाये जाते हैं, किन्तु यहाँ जंगली हैं। कास्मिया, पोटेंटिला, स्नोड्राप, एनिमोनी, बटरकप और अनेक जातियों के फूल जिनके देशी-विलायती कोई नाम नहीं जानता। पीले, लाल, गुलाबी, नीले, आसमानी, किरमिज़ी, उन्नाबी, सफेद, चम्पई रंगों की होली-सी मची हुई थी और हवा के झोंकों से नाल झूम झूम जाते थे। मानों फूल मटक-मटक कर हवा से कह रहे हों, "उँह, हमें तुम्हारी क्या परवाह है !"

पहाड़ों में फूल मैंने और भी देखे हैं, किन्तु वैसे नहीं। पहाड़ों और फूलों के चित्र भी बहुत देखे हैं, किन्तु उस दृश्य के आस-पास का भी चित्र कभी नहीं देखा। केवल निकोलस रोयरिक के एक चित्र में याद पड़ता है, वैसी ही फूली हुई पहाड़ियों का चित्र है, यद्यपि उस में भी थोड़ी कृत्रिमता लायी गयी है क्योंकि वह 'कृष्ण की वंशी' से कुसुमित हो उठते वन-प्रदेश का चित्र है, उस वन-खंड का नहीं जो अपनी ही अन्तर्वंशी की पुकार से खिल उठा हो, अस्तित्व के सहज आनन्द की पंखुड़ियों पर दोलायित हो रहा हो...

उपत्यका लम्बी थी, चौड़ाई उस की अधिक न थी, और हमें उस के आर-पार जाना था। थोड़ी देर में हम लोग फिर चीड़ के वन में घुस गये।

फूलों की घाटी जोशी-द्वय ने घोड़ों पर पार की थी। घोड़े बहुत धीरे धीरे चल रहे थे, पर उस समय वही अभीष्ट था। अब जंगल में जब वे लोग पिछड़ने लगे तब उन्होंने घोड़ों को दौड़ाना चाहा, पर घोड़ों ने दुलकी भी चल कर न दी। बड़े जोशी जी ने घोड़े वाले से कह कर एक पतली सी छड़ी कटवायी। किन्तु घोड़े अद्भुत थे, कोड़ा पड़ते ही बिलकुल निश्चल खड़े हो जाते और बहुत पुचकारने पर चलते, अपनी उसी धीर गति से।

जोशी जी ने घोड़े वाले को डाँट दिया। उसने कहा, "साहब, घोड़े थक गये हैं—सुबह इतना दौड़े हैं।"

अब बात उन की समझ में आ गयी। हमें पुकार कर बोले, "तुम लोगों की चालाकी अब मैं समझा। कल पहली बारी हमारी। तुम लोग भी मज़ा देखना।"

हमने कहा, "अच्छा !" कल क्या मिलेगा, इसे हम लोग नक्शे पर अच्छी तरह देख चुके थे। कोंसरनाग की चढ़ाई का अन्तिम आध-पौन मील तो सीढ़ी जैसी चढ़ाई का था जिस में घोड़े की सवारी हर हालत में असम्भव होती, उस से इधर के रास्ते के परिवर्तन हमारे पक्ष में थे···

घोड़े धीरे-धीरे चलते रहे। थोड़ी देर में रास्ता बिलकुल खो गया। नाले के ऊपर झुकी हुई चट्टानों के पेट के आर-पार एक हलकी-सी लीक —यही पथ था। हम लोग जैसे-तैसे एक हाथ से चट्टान का सहारा लेते-लेते बढ़ते गये। घोड़े रुक गये। यों ही पहाड़ी घोड़े पगडंडी के बाहरी सिरे पर चलते हैं, पहाड़ी के पार्श्व से अपने को बचाते हुए; और जोशी जो उन की इस आदत से बहुत घबराते थे; यहाँ पर अगर घोड़े पार जाने को राज़ी भी होते तो भी वह सवार न होते। उतर कर घोड़ों को कुछ खींच कर, कुछ पुचकार कर पार कराया। यहाँ से आगे सारा रास्ता लगभग ऐसा ही था, चीड़ के घने जंगल, एक ओर सीधी चट्टानें, दूसरी ओर घहराता पानी, बीच में पतली-सी लीक···केवल कहीं-कहीं थोड़ी-सी खुली जगह आ जाती, जहाँ तनिक रुक कर चीड़ों में ढलती धूप के खेल देख लेते और फिर बढ़े चलते···

एक खुली जगह, पास में नदी, उस पार चढ़ाई के ऊपर जंगल के सिरे पर छोटा-सा बँगला—यह कुंगवतन है। बँगले का परमिट हमने नहीं लिया था, वह उन दिनों के लिए किसी विभागीय अफ़सर के लिए रिजर्व था। नदी के इस पार ही एक शहतीरों का बाड़ा था, जिस के सिरे पर एक काठ-घर भी। दिन छिपने को था, थोड़ी-छोड़ी बूँदें भी पड़ रही थीं। सामान के घोड़े पीछे थे, हम लोगों ने उस काठ-घर में ही शरण ली। आग जला कर बैठ गये। घोड़े वाला अपनी छोटी बालटी माँज कर कहीं से दो सेर दूध ले आया। मालूम हुआ कि आसपास खानाबदोश गूजर बसते हैं और दूध की इधर बहुत सुविधा है। हमने उस समय दो आने सेर लिया, किन्तु बाद में रुपये का बारह सेर तक मिलता रहा।

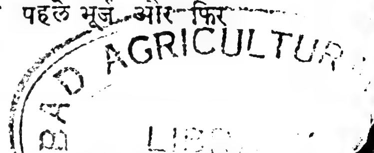
थोड़ी देर में सामान भी आ गया। एक तम्बू खड़ा किया गया। रसोई काठ-घर में ही रही, सामान भी रख दिया गया और रहमत सोया भी वहीं। मैंने सूजी का हलवा बनाया; फल, दूध और हलवे का जलपान कर के हम तीन जने टहलते हुए कल का कार्य-क्रम निर्धारित करने लगे, और छोटे जोशी पौधों की खोज में लग गये। रहमत ने रात को भुने आलू, पराठे, दूध में पकाये हुए सूखे सेब और काफ़ी देने का आर्डर पा कर अपना काम आरम्भ कर ही दिया था। चारों ओर वन्य शान्ति थी, साँझ के बुझते आलोक में हरे चीड़ काले पड़ गये थे, हरा पानी उजला हो आया था, हरे पत्थरों पर फीकी ललिम दीप्ति खेल रही थी। एक सत्य के आलोक के फीके पड़ते ही कितनी माया-मरीचिकाएँ उभर आयी हैं और रँगीले प्रलोभन बिखेरने लगी हैं! किन्तु, प्रभात फिर होगा, आलोक फिर होगा, सब भौतिक सत्य फिर तादात्म्य पा कर खिलेंगे··· हम जानते थे कि कल फिर वैसा ही दिन होगा, किन्तु फिर भी साँझ की रंगीनी के साथ उदासी क्यों आती है, क्या इस लिए कि वह रंगीनी अपनी असारता का भी बोध लाती है ?

निशा के बाद उषा है, किन्तु
देख बुझता रवि का आलोक
अकारण हो कर सहसा मौन
ज्योति को देते विदा सशोक...

कोंसरनाग नदी के किनारे-किनारे हलकी चढ़ाई चढ़ते हुए हम लोग कोंसरनाग की ओर बढ़ने लगे। हलकी चढ़ाई में घोड़े को कष्ट तो नहीं होता, पर दौड़ाया भी नहीं जाता, अतः जोशी-द्वय भी हम लोग के साथ ही साथ चल रहे थे। थोड़ी देर में घोड़े की उस चाल से ऊब कर वे भी पैदल चलने लगे।

कुंगवतन की ऊँचाई लगभग साढ़े आठ हज़ार फुट है। दोपहर तक हम लोग एक हज़ार फुट और चढ़ गये थे। चीड़ों ने पहले भूर्ज और फिर



छोटे-छोटे वृक्षों को स्थान दे दिया था; अब निरी झाड़ियाँ मिलने लगीं और सामने खुली घास के प्रसार दीखने लगे। बहुत विरली, गावज़बान और 'जूनिपर' की झाड़ियाँ और घास में जहाँ-तहाँ नाना प्रकार की गन्धोषधियाँ, जिन के खाने से यहाँ के गूजरों की गायें अजवायन-सा महकने वाला दूध देती हैं।

मैंने जोशी जी से कहा, "यहाँ से तो घोड़े हमारे हैं न?"

उन्होंने कुछ आनाकानी करते हुए कहा, "नहीं, यह आधा मील हम दौड़ा लें, फिर।"

तय हुआ कि सामने जो नाला दीख रहा है, वह जहाँ कोंसरनाग नदी में मिलता है वहाँ पर वे घोड़े हमें दे देंगे। वहाँ तक दोनों घोड़े दौड़ाते ले गये।

हम लोग घोड़ों पर सवार हुए। अब पूरा काफ़िला साथ ही साथ था, सामान कुछ पहले चला था अवश्य, पर हम लोगों ने उसे जा पकड़ा था और फिर साथ चले थे।

घोड़े वाले ने कहा, "यह नाला पार करना होगा।"

हमने घोड़े नदी में डाल दिये। धीरे-धीरे पैर जमाते हुए वे आगे बढ़े, जहाँ स्रोत तेज़ था वहाँ रुक गये, फिर, थोड़ी पुचकार के बाद आगे बढ़े और क्रमशः पार हो गये। नाला खासा गहरा था। बीच धार में हम लोगों ने पैर उठा लिये थे, पर जल रिकाब के ऊपर तक आ गया था।

पार जा कर हमने हँसना शुरू किया। जोशी-द्वय अभी देख रहे थे। हमारे हँसने से चिढ़ कर छोटे जोशी ने जूते-मोजे उतार कर पतलून चढ़ाना शुरू किया। बड़े जोशी जी ब्रीचेस पहने थे, उसे चढ़ाया न जा सकता था।

छोटे जोशी भी लड़खड़ाते हुए जाँघों तक भींग कर पार आ गये; कोट की आस्तीन और पैंट के पहुँचे काफ़ी भींग गये थे।

घोड़े वालों ने भी भाँप लिया कि कुछ बात है। एक ने बड़े जोशी जी से कहा, "कुछ फ़िकिर नेइ हजूर, हम आप को कन्धे पर बिठा कर ले जायेंगे।"

जोशी जी ने झल्ला कर कहा, "नहीं, हम अपने-आप जायेंगे।"

थोड़ी देर शायद वह ब्रीचेस उतारने पर विचार करते रहे। इस बीच गुरुजी ने अपना घोड़ा वापस इस पार भेज दिया। घोड़े वाला पानी में उतर कर उसे खींच ले आया। जोशी जी सवार हुए; घोड़े वाला लगाम पकड़े खींच कर ले चला। किन्तु पानी के बीच में जब घोड़ा थमा, तब लगाम के बगैर बैठने के अनभ्यस्त जोशी जी ने अपनी डाँवाडोल स्थिति से घबरा कर लगाम घोड़े वाले से ले ली और उसे डपट कर कहा, "तुम जाओ, हम अपने आप ले आयेंगे।"

घोड़ा वहीं खड़ा तेज़ पानी को घूर रहा था। जोशी जी ने अधीर हो कर पेट में एड़ दी, घोड़ा कुछ बिदका, फिर गुस्से से सिर झटक कर ज्यों-का-त्यों हो गया। अब की बार जोशी जी ने ज़ोर से एड़ दी, लगाम को भी झटक दिया।

घोड़े ने गर्दन मोड़ कर एक तरफ़ जोशी जी की टाँग पकड़ने की कोशिश की और साथ ही पानी में बैठ गया। जोशी जी की टाँगें जूता ब्रीचेस समेत जाँघ तक भींग गयीं।

घोड़े वाले ने लौट कर रासें पकड़ीं। खींच कर घोड़े को उठाया और पार ले गया।

जोशी जी ने जूते खोल कर और ब्रीचेस की टांगें दाब कर पानी निकाला, जूते फिर पहने। बर्फ़-सा ठंढा पानी था, जांघ तक भीगी ब्रीचेस की नमी धीरे-धीरे ऊपर चढ़ रही थी, जोशी जी ठंढ से काँप रहे थे।

गुरु जी ने सहानुभूतिपूर्वक चाकलेट का पैकेट निकाल कर उन्हें दिया। थर्मस में थोड़ी चाय ली गयी थी, वह भी पिलायी। हम लोग फिर आगे बढ़े। और भी दो-एक नाले पार किये, कोंसरनाग नदी भी एकाधिक

बार पार की। उस एक अनुभव के बाद जोशी जी ने घोड़े पर बैठ कर नाला पार करने से कतई इनकार कर दिया, और घोड़े वालों के कन्धों पर सवार हो कर जाने की अवमानना भी स्वीकार की।

कुछ आगे सपाट दलदली भूमि में दो ताल मिले। बड़े का नाम माहीनाग है। इन्हीं के पास शुपियाँ से आने वाला एक रास्ता हमारे पथ में मिल गया। कुछ आगे जा कर यह रास्ता अलग हो कर गुगुमारों गली जाता है और वहाँ से पंजाल श्रेणी के पार भी जाया जा सकता है। हम कुंगवतन न जा कर शुपियाँ से यहाँ तक इस राह भी आ सकते थे, पर यह अपेक्षता लम्बा है। हमने दुर्गमता की परवाह न कर छोटा रास्ता पकड़ा था।

थोड़ी दूर और ठीक रास्ते से चल कर हम कोंसरनाग की अन्तिम ढाँटी चढ़ाई के चरण में आ गये। यहाँ से आगे पथ नहीं था, ध्येय था ऊँचा चढ़ना, पौन मील भर में डेढ़ हजार फुट।

थोड़ी दूर तक सामान के घोड़ों ने चढ़ने का यत्न किया। एक तो चढ़ाई ऐसी थी, दूसरे मार्ग बहुत तंग था और चट्टानों के बीच-बीच हो कर ऐसा जाता था कि सामान टकरा कर फँस जाता था। जिन ट्रंकों में दोनों विद्युद्दर्शक थे, उन की सब से अधिक चिन्ता थी, और गुरुजी के बार-बार सावधान करने पर भी 'कुछ फिकिर नेई' के बीजमन्त्र में घोड़े वालों की आस्था किसी तरह कम न की जा सकी थी; अतः घोड़े रोक कर यह सामान उतार कर घोड़े वालों की पीठ पर लादा गया। अन्य यन्त्रों का एक-एक बक्स गुरुजी, छोटे जोशी और मैंने भी पीठ पर लिया—कैमरे और प्लेटों का, अन्वीक्षक और मापक यन्त्रों का इत्यादि। कश्मीर में डाक्टरी परीक्षा में बड़े जोशी जी की हृद्‌गति अपेक्षया तेज़

पायी गयी थी, यहाँ ऊँचाई के हलके वायुमंडल में वह यों ही एक सौ दस के लगभग थी। उन्हें कोई भार न दिया गया।

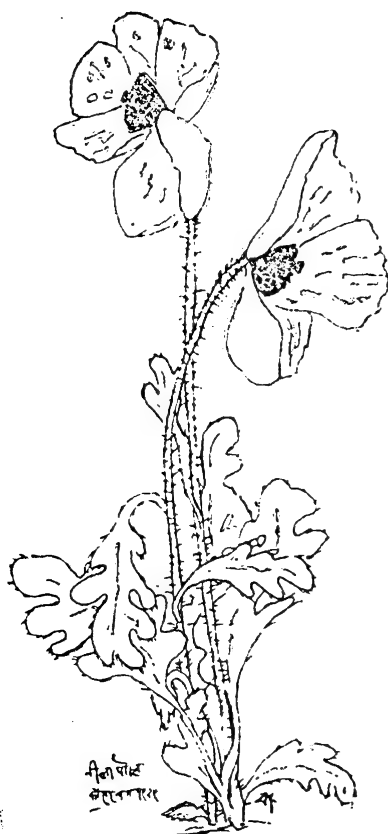
हम लोग चुपचाप चढ़ने लगे। साढ़े ग्यारह हज़ार फुट हम आ गये थे। झील की ऊँचाई तो इतनी ही थी। किन्तु, हमें दो सौ फुट और चढ़ कर किनारे की ओर उतरना होगा। झील तिकोनी थी, दोनों पार्श्व अत्यन्त ऊँची शृंगमालाएँ और तीसरी ओर बाँध-सी वह चढ़ाई जिस पर हम चढ़ रहे थे। इस की चोटी चपटी थी और उस के पार ही झील का उतार था।

ये अन्तिम दो सौ फुट मुहाल हो गये। सुस्ताने के बाद दस कदम चढ़ने में भी इतनी थकान आ सकती है! समझ में आने लगा कि कैसे एवरेस्ट पर चढ़ने वाले अन्तिम सौ-पचास फुट से भी हार कर आ जाते थे—उस ऊँचाई पर एक कदम चलने से साँस फूल जाती है!

सामान रख कर एक चट्टान के सहारे पीठ टेक कर बैठा था। सामने एक और चट्टान के सहारे एक पत्थर तिरछा पड़ा था। देखा, उस के नीचे मैली-सी बर्फ़ अभी तक है। सोच ही रहा था कि सितम्बर में दुबारा बर्फ़ पड़ने तक यह पिघलती बनी रहेगी या नहीं, कि आँखें उसके पार की कन्दरा पर केन्द्रित हो आयीं—देखा वहाँ एक फूल!

भीतर घुस कर उसे निकाला। हलके नीले रंग का एक पोस्त का फूल। सुन रखा था कि पहाड़ों में हिम-रेखा के आसपास यह नीला पोस्त पाया जाता है और इसे पाना शुभ होता है। बर्फ़ और पत्थर को भेद कर यह कोमल सौकुमार्य निकलता है। इतनी तपस्या के बाद जो अवतीर्ण हो, उस का पाया जाना शुभ तो होना ही चाहिए।

किन्तु शुभ किस के लिए?



'चट्टानों में भटकते हुए सहसा देखा, एक गुहा के भीतर जमी बर्फ के परे से झाँक कर नीले पोस्त का फूल मुस्करा रहा है। मैंने प्रसन्न हो कर कहा, "अहोभाग्य! यह शुभ फूल मुझे दीखा।" और लपक कर उसे तोड़ लिया।

'फूल ने सिर झुका कर, आह भरते हुए कहा, "ठीक है, जो मुझे पाता है उस का भाग्योदय होता है, किन्तु मैं जब पाया जाता हूँ तो मेरी मृत्यु हो जाती है।"

थोड़ी-थोड़ी दूर पर और भी कुछ-एक फूल मुझे मिले, उन्हें भी मैंने त ड़ कर रख लिया। पड़ाव पर जा कर इन्हें पुस्तक में दबा कर सुखाऊँगा और रखूँगा; अन्य प्रकार के फूल भी मैंने रखे थे...

और थोड़ा ऊपर इस घाटी की शिरोरेखा है, फिर उस के पार उतार है, और सामने—सामने जो है, सो...



रूप की सीढ़ी पर एक तल ऐसा आता है जहाँ रंगों का महत्त्व नहीं रहता। उस तल तक हम सुन्दर की बात करते हैं, किन्तु वहाँ जा कर यह शब्द ओछा पड़ जाता है और विराट् का आविर्भाव होता है।

कोंसरनाग की जिस ढाल पर हम चढ़े थे, उस की शिरोरेखा वह मर्यादा-रेखा थी। सौन्दर्य को, रंगमय रूप को, हम पीछे छोड़ आये थे, सामने था विराट् और उस के साधन रंग नहीं थे, केवल श्वेत और कृष्ण, केवल प्रकाश और छाया—केवल आलोक और निरालोक! यों जहाँ हम थे, वहाँ की काली या धूसर चट्टानों पर जहाँ-तहाँ काही की मिश्र-हरित, ताम्र-लोहित रंगत थी ही, जल में दूध-धुली नीलिमा भी थी ही, और दूर उस पार की निस्संग चोटियों को हिमशीतल निर्मोह में लपेट रखने वाली बर्फ़ की चादर में सन्यासोचित गैरिक भाव भी था ही; किन्तु बोध को जो चीज़ पकड़ती थी, वह दृश्य रंग नहीं, रंगो की अनुपस्थिति में केवल रेखाओं और तलों का बहाव, अन्योन्य-संवर्द्धक कोणों का रखाव, ऊँचाई-निचाई और गहराई, निराडम्बर महानता...

जिस तरफ़ हम थे, उधर जहाँ-तहाँ गलियों में और चट्टानों की आड़ में बर्फ़ जमी हुई थी। झील में भी नवनीत के बहुत बड़े-बड़े गोलों-सी बर्फ़ की चट्टानें तिर रही थीं, घोर निःस्तब्धता का राज्य था। तीसरे पहर की धूप हम लोगों की छायाओं को ले कर नीरव पैरों से सरोवर के पार भागी जा रही थी, और मानों उस के भागने के पथ-सी एक हलकी लहरीली रेखा झील की लम्बान को मापती हुई पार के हिम-स्रोत के पदमूल में खो गयी थी।

झील के उतार पर एक खुली जगह हम लोगों ने पूर्वोन्मुख शिविर डाला। इस स्थान के सामने एक बड़ी चट्टान चपटी बिछी हुई थी और उसी से लग कर एक चिकनी तिरछी चट्टान थी। दोनों मिल कर एक नैसर्गिक आसन्दी बना देती थी जिस पर बैठ कर झील को देखा जा सकता था। दक्षिण को कुछ हट कर दो-तीन बड़े पत्थरों की आड़ में

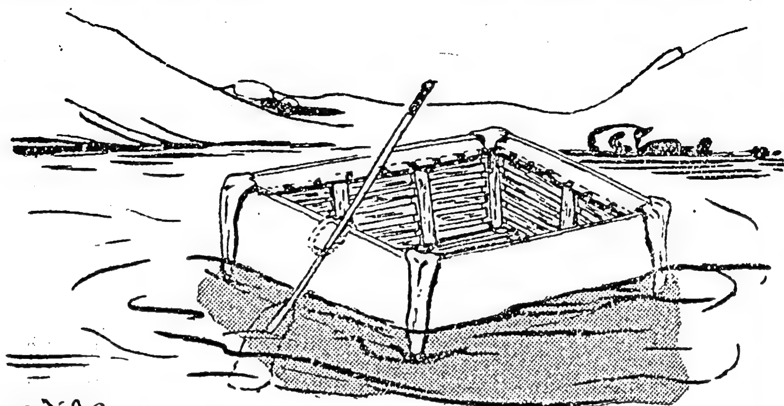
रसोई की छोलदारी लगायी गयी, उस से और आगे घोड़े वालों की छोलदारी। उन्होंने दो की बजाय एक ही लगाना पसन्द किया ताकि उस में भीड़ कर के गरम कर सकें।

जिस ढोंटी चढ़ाई पर से हम आये थे, उस पर गूजरों की गायें देखी थीं। गूजर इस चढ़ाई के नीचे माहीनाग के ऊपर के प्रदेश में बसते थे, जहाँ घास पर्याप्त थी। छोटे-छोटे पत्थरों का तीन फुट ऊँचा वाड़ा-सा बना कर उस चपटे पत्थर की छत, यही उन का घर था जिस में झुक कर घुसा जा सकता था और घुस कर लेटा जा सकता था या कष्टपूर्वक बैठा। इन्हीं गूजरों से दूध की व्यवस्था कर ली गयी थी। ईंधन हम साथ लाये थे और अनन्तर तीसरे दिन जा कर कुंगवतन से दो-तीन घोड़े वाले गुज़ारे लायक लकड़ी ले आते थे। कुंगवतन से ऊपर तो काठ था नहीं।

भोजन हम लोगों का ऋषियों का-सा था। सूखे खट्टे सेब और आलू की तरकारी, दाल, पूरी या पराठे, और छः सेर दूध की खीर, यह दोपहर का भोजन था। रात को कुछ फल-मेवे, टोस्ट-मक्खन, मधु और दूध या कोको। खीर को हम प्रायः सवेरे ही तैयार कर के बर्फ में दबा छोड़ते और खाने के समय निकालते। गुरुजी खाना खाने बैठते तो प्रायः कहते, 'तुम इसे सात्त्विक भोजन कहते हो, यह तो राजाओं का खाना है!' किन्तु खाना उन्हें रुचता, और जब वह बाहर की पत्थर की बेंच पर परोसा जाता तब उन्हें खाने का समय हो गये होने की याद भी न दिलानी पड़ती। इसी लिए जब अभियान से लौट कर उन्हें पुनः गुरुपत्नी के हवाले किया तब उन का वजन १० पौंड अधिक ही निकाला; यों कुछ और अधिक निकलता, लेकिन बढ़ कर फिर वह ५–७ पौंड घट गया था—कैसे, इस का उल्लेख यथास्थान होगा।

हम लोगों की दिन-चर्या भी सीधी थी। दिन-रात दो-दो घंटे बाद हम लोग किरमिच की नौका में झील पर जा कर अपने विद्युद्दर्शक की गहराई

बदल देते थे। आठ घंटे बाद विद्युद्दर्शक को निकाल कर उस में से फ़िल्म निकाल कर दूसरी फ़िल्म लगा देते थे। गुरुजी प्रत्येक बार जाते थे;



मैं और बड़े जोशी जी बारी-बारी से उन के साथ; छोटे जोशी जी को इस से मुक्ति थी। किन्तु, यहाँ पर कॉस्मिक किरणों के विषय में कुछ परिचयात्मक विवरण देना उचित होगा।

सन् १८९५ में रांट्जेन द्वारा क्ष-किरणों की खोज भौतिक विज्ञान के इतिहास में एक महान् घटना हुई, क्योंकि इस से उस नयी विचार-परम्परा का आरम्भ हुआ जिस ने पदार्थ की अन्तर्रचना के विषय में वैज्ञानिकों की धारणाओं को आमूल बदल दिया। अगले कुछ वर्षों में ही रेडियम धर्मिता और रेडियम धातु का पता लगा, और फिर विकीर्ण-शक्ति में आल्फ़ा, बेटा और गामा किरणों का पृथक्करण हुआ।

अंग्रेज़ी वैज्ञानिक विल्सन ने जब अपने 'कृत्रिम मेघमंडल' के द्वारा इलेक्ट्रन को देखना और उन के चित्र लेना संभव कर दिया, तब यह

देखा गया कि कुछ ऐसे भी विद्युत्कण हैं जो साधारण इलेक्ट्रन से सर्वथा भिन्न आचरण करते हैं और कहीं अधिक शक्ति तथा भेदकता रखते हैं। विल्सन का अनुमान था कि ये कण ऊपर वायुमंडल से आते हैं। ऐसा ही प्रभाव अन्य अन्वेषकों ने भी विद्युद्दर्शकों पर लक्ष्य किया था, और उन्होंने अनुमान किया था कि ये किरणें पृथ्वी की ऊपरी पपड़ी से ही विकीर्ण होती हैं—सम्भवतया उसमें पाये जाने वाले रेडियम-धर्मी यूरेनियम से। किन्तु १९०९ में स्विट्ज़रलैंड में गेकेल ने, और अनन्तर हेस और कोल-हार्स्टर ने सिद्ध किया कि ये किरणें पृथ्वी-तल की अपेक्षा ऊँचाई पर वायु-मंडल में अधिक सक्रिय होती हैं और गुब्बारे में ऊपर भेजे गये विद्युद्दर्शक में आविष्ट विद्युत् को अधिक विसर्जित कर देती हैं। इन किरणों को उच्चतलीय किरण अथवा 'कॉस्मिस' (कॉस्मिक—विश्वमंडल की) किरणों की अभिधा दी गयी। स्विट्ज़रलैंड के प्रोफेसर आगस्त पिकार की गुब्बारे में दस मील (५२,००० फुट) ऊँची उड़ान के जिस साहसिक कार्य ने दुनिया को चकित कर दिया था, वह मुख्यतया इन्हीं किरणों के अध्ययन के लिए हुई थी।

अमरीकी वैज्ञानिक आर० ए० मिलिकन (अनन्तर नोबेल पुरस्कार-विजेता) ने इन किरणों का अध्ययन आरम्भ किया। उन्होंने इन किरणों की तीव्रता का मापन भी किया। पृथ्वी के वायुमंडल में इतनी भेदक और शक्तिशाली किरणें उत्पन्न करने वाली किसी क्रिया, विधि या घटना की अनुपस्थिति में मिलिकन ने निष्कर्ष निकाला कि ये किरणें पृथ्वी के वायु-मंडल की चरम सीमा के भी बाहर से आती हैं। उस से पहले एक धारणा यह भी थी कि ये किरणें हमारे वायुमंडल के बाहरी स्तरों में कहीं उत्पन्न होती हैं।

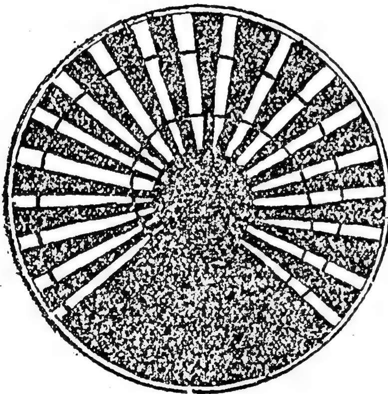
जिस समय हमारा अभियान कोंसरनाग गया, उस समय कॉस्मिक किरण-सम्बन्धी ज्ञान की यही अवस्था थी। यों अनुमान अनेक प्रकार के थे, और उन्हीं के आधार पर विभिन्न देशों के वैज्ञानिक विभिन्न दिशाओं में खोज, यन्त्रों का आविष्कार और सम्बद्ध क्रियाओं-घटनाओं का मापन कर रहे थे। अमरीका में मिलिकन और काम्प्टन, यूरोप में पिकार बन्धु

और अन्य वैज्ञानिक, इंगलैंड में ब्लैकेट, विशेष रूप से इन किरणों की खोज में दत्तचित्त थे। यह जाना जा चुका था कि कॉस्मिक कणों का विकीरण दिन और रात में समान होता है, जिस से सिद्ध होता है कि सूर्य से उन का सम्बन्ध नहीं है, और यह भी लक्षित हुआ था कि पृथ्वी के चुम्बकत्व का उन पर प्रभाव पड़ता है जिस से भूमध्य में किरणों का आयतन न्यूनतम होता है और बढ़ते हुए उन्नतांश के साथ बढ़ता जाता है (क्ले, १९२७)। किन्तु, क्या इन किरणों को नियन्त्रित किया जा सकता है? क्या इन के द्वारा मशीनें चलायी जा सकती हैं? और इस प्रकार 'चिरन्तन गतिशीलता' की ग्रन्थि खोली जा सकती है? इन किरणों का शरीर-तन्तुओं के निर्माण-वार्धक्य-क्षय पर क्या प्रभाव पड़ता है? क्या उसे वश किया जा सकता है? क्या इन किरणों का चैकित्सिक उपयोग हो सकता है—यथा कैंसर के इलाज में? क्या इन की वैद्युतिक शक्ति का मारक उपयोग है—आग लगाने, विमान गिराने, जहाज उड़ाने में? ये सब प्रश्न वैज्ञानिकों को उत्सुक कर रहे थे। शुद्ध विज्ञान के क्षेत्र में यह प्रश्न भी कौतूहलवर्द्धक था कि इन किरणों से पदार्थ की अन्तर्रचना पर, शक्ति और पदार्थ के सम्बन्ध पर क्या प्रकाश पड़ता है।

किरणें तरंगों में चलती हैं। किरणों की गति पृथक् हो सकती है, तरंगों की लम्बाई अलग हो सकती है और आवृत्ति ('फ़्रीक्वेंसी') भी। एक ही गति से चलने वाली दो किरणों में एक की तरंगें लम्बी हों और एक की छोटी, तो स्पष्ट है कि लम्बी तरंग की 'फ़्रीक्वेंसी' कम होगी और छोटी की अधिक, जैसे एक-सी चाल चलने वाले दो व्यक्तियों में से जो छोटे डग रखेगा उसे अधिक डग चलने होंगे। इसे यों कहें कि लम्बाई और 'फ़्रीक्वेंसी' में विपरीत आनुपातिकता है। ध्वनि की किरणें (या लहरें) लम्बी होती हैं, उनका स्वभाव भी भिन्न है, उन की गति भी कम होती है। प्रकाश की गति रखने वाली किरणों में ताप की किरणें (या लहरें) लम्बी होती हैं और उन की 'फ़्रीक्वेंसी' कम होती है। अनुक्रम में इस के दृश्य किरणों से नीचे 'इन्फ़्रा रेड', अर्थात् लाल से नीचे, लम्बी या कम 'फ़्रीक्वेंसी'

की किरणें आती हैं; ये चक्षु से नहीं दीखतीं किन्तु इन के सहारे प्राकृतिक दृश्यों के फ़ोटो लिये जाते हैं, यथा धुन्ध-कुहरे में। फिर क्रमशः दृश्य आलोक के रंग—लाल, नारंगी, पीला, हरा, नीला, बैंगनी। फिर दृश्य किरणों से ऊपर की 'अल्ट्रा वायलेट' अर्थात् बैंगनी से अधिक 'फ्रीक्वेंसी' वाली किरणें। इस के बाद रांट्जेन या एक्स-किरणें, फिर गामा किरणें और सब से अन्त में कॉस्मिक किरणें।

एक बात और है। जिस तरंग की लम्बाई जितनी कम और 'फ्रीक्वेंसी' जितनी अधिक होगी, उस की भेदकता भी उतनी अधिक होगी। अर्थात्, 'फ्रीक्वेंसी' और भेदकता में सीधी आनुपातिकता है, लम्बाई और भेदकता में विपरीत आनुपातिकता। इस से परिणाम यह निकला कि यदि हम दो प्रकार की किरणों में से एक की लम्बाई और 'फ्रीक्वेंसी' जानते हों तो दूसरी के साथ उस की भेदकता की तुलना कर के दूसरी की लम्बाई और 'फ्रीक्वेंसी' का अनुमान कर सकते हैं, और इसी प्रकार की तुलना द्वारा उसे उत्पन्न करने वाली वैद्युतिक शक्ति का भी। कॉस्मिक किरणों के अध्ययन में यह बात महत्त्व रखती है। हम लोग इसी भेद-कता का अध्ययन कर रहे थे। विद्युद्दर्शक के तारों को आविष्ट कर के पानी के नीचे विभिन्न तलों पर रख कर देखते थे कि उस का आवेश किस गति से नष्ट होता है। क्वार्ट्ज़ से खींचे हुए दो अत्यन्त सूक्ष्म तार इस में लगाये गये थे और शून्य (वैकुअम) में बन्द थे। समान वैद्युतिक आवेश से दोनों तार एक दूसरे को विकर्षित करते थे और उन के बीच में फ़ासला पड़ जाता था। तारों के नीचे एक बैटरी की बत्ती थी, ऊपर एक छोटी-सी



दरार जिस में से दोनों तारों की स्थिति देखी जा सकती थी। इस से ऊपर एक घड़ी में फ़ोटो की फ़िल्म लगा कर रक्खी जाती थी। घड़ी का सम्बन्ध बैटरी से था। प्रत्येक आठ मिनट बाद बल्ब जल जाता था और फ़िल्म पर तारों का फ़ोटो खिंच जाता था। दो घंटे बाद तल में परिवर्तन कर देते थे, आठ घंटे की फ़िल्म निकाल कर, धो कर, फिर अन्वीक्षक से तारों की दूरी और उस में परिवर्तन की दर नाप लेते थे। फिर इस का ग्राफ़ बना कर देखते थे कि किस गहराई पर किस दर से आवेश नष्ट होता है।

यह सन् १९३० की बात है। उचित होगा कि उस के बाद अब तक की खोज का संक्षिप्त परिचय भी यहाँ दे दिया जाय। गुरुजी ने उस के बाद जावा के पास समुद्र-तल में भी माप लिये थे। मैं तब जेल में था। चाहने पर और उन के ज़मानत पर छुड़ा ले जाने का यत्न करने पर भी न जा सका। अब वह शिकागो में काम कर रहे हैं। अब भारत में इस विषय के प्रमुख अन्वेषक प्रोफ़ेसर भाभा और मेरे ही कालेज के डा० गिल हैं। डा० गिल हिमालय में दो अभियान कर आये और अब विमान द्वारा भू मध्य-मेखला के ऊपर के वायुमंडल के अध्ययन में लगे हैं। प्रोफ़ेसर आगस्त पिकार एक पनडुब्बी बना रहे हैं जिस में बैठ कर गिनी की खाड़ी में वह समुद्र-तल के तीन हजार फुट नीचे जा कर किरणों का मापन करेंगे। उन के भाई वॉ पिकार आकाश में और ऊँचा उड़ने की तैयारी कर रहे हैं। रूसी वैज्ञानिक फ्रानोव भी परमाणु पर कॉस्मिक किरणों के प्रभाव की खोज में लगे हैं और इसी के लिए उन्हें एक लाख रूबल का 'स्टालिन पुरस्कार' मिला है।

सन् १९३७ में प्रो० ब्लैकेट ने सिद्ध किया कि कॉस्मिक किरणें मुख्यतया एक नये विद्युदाविष्ट अणु की धारा होती हैं, जो इलेक्ट्रन से दो सौ गुना भारी होता है और जिसे उन्होंने 'मीसन' का नाम दिया। उन के अनुमान से समुद्र-तल पर आपतित किरणों में ७५ प्रतिशत मीसन होते हैं और शेषांश में इलेक्ट्रन, प्रोटन और गामा किरणें।

ब्लैकेट ने अनुमान किया कि मीसन तब उत्पन्न होते हैं जब कॉस्मिक किरणें वायुमंडल के ऊपरी स्तरों में परमाणु-केन्द्रकों पर आपतित होती हैं और केन्द्रकों को भेद देती हैं। मीसन प्रभूत वैद्युतिक शक्ति ले कर भूमंडल पर गिरते हैं।

इस शक्ति का 'पोटेंशियल' १०० करोड़ वोल्ट से अधिक होता है और भेदकता इतनी कि जल के नीचे ३ हज़ार फुट गहरे तक उन का प्रभाव पहुँचता है।

अब अनुमान किया जाता है कि मीसन ही परमाणु के केन्द्र को बाँधे रखता है और विस्फोटित होने से बचाता है। इस से केन्द्रक के स्थायित्व का भी कारण समझ में आ जाता है। किन्तु, इस प्रश्न का अभी तक कोई उत्तर नहीं मिला कि कॉस्मिक किरणें आती कहाँ से हैं, उत्पन्न कैसे होती हैं; अर्थात् किरणें अभी तक 'आकस्मिक' ही हैं। आरम्भ में जिसे कॉस्मिक किरण कहा गया था, वह वास्तव में उन से उत्पन्न होने वाला द्वैतीयिक प्रभाव ही था। एक अनुमान यह है कि कॉस्मिक किरणें आकाश-गंगा के पार कहीं शून्य में उत्पन्न होती हैं। कैसे उत्पन्न होती हैं, इस का उत्तर यह दिया जाता है कि कार्बन, नाइट्रोजन आक्सीजन, अलुमिनियम, सिलिकन आदि के परमाणुओं के विनाश से ये किरणें उत्पन्न होती हैं। ब्लैकेट कहते हैं कि "मेरा अनुमान है कि ये किरणें उस युग का अवशेष हैं जब विश्व अभी नया था। सम्भव है कि वे करोड़ों वर्ष पहले सृष्टि के किसी सुदूर कोने में होने वाले किसी विश्वव्यापी विभ्राट् से उत्पन्न हुई हों। जो भी हो, यह खोज का रोचक क्षेत्र है।"

संक्षेप में यही कॉस्मिक किरण-सम्बन्धी ज्ञान की वर्त्तमान अवस्था है।

❀ ❀ ❀ ❀

किन्तु हम यन्त्र के अधीन नहीं थे। ढाँचे में चलते हुए भी हमारा जीवनानन्द अनेक रन्ध्रों से फूट निकलता था।

छोटे जोशी का किसी अज्ञातपूर्व जलजात उद्भिज को खोजकर उसे अपना नामराशी बनाने का स्वप्न पूरा न हुआ था। बल्कि अभी तक उस झील में कहीं किसी परिचित उद्भिज का भी चिह्न न मिला था, काई तक का नहीं। हम लोग जब-तब उन्हें चिढ़ाते थे, और वह आवेश में आ कर घूमने निकल जाते थे और घंटों की खोज के बाद लौटते थे, फिर भी रिक्तहस्त।

हम लोग पीने के लिए पानी झील में से लाते थे। किन्तु किनारे से नहीं, कुछ दूर नाव में जा कर। एक दिन गुरुजी नाव खे रहे थे और मैं पानी भर रहा था। कमंडल भर कर निकाला, तो उस में कुछ तिर रहा था। धागे

की गाँठ और उस से निकलते हुए तीन चार तन्तु—शायद हमारी किरमिच की नाव से अलग हो गये हों। मैं पानी फेंकने ही जा रहा था कि गुरुजी ने कहा, "ठहरो, ठहरो, यह कोई नया उद्भिज है। जोशी को दिखाना होगा।"

मैंने कहा, "ठीक तो है। लेकिन कहिएगा आप, मुझे हँसी आ जायगी।"

उसे निकाल कर हमने गिलास में रखा। पानी भर कर ले आये।

गुरुजी ने छोटे जोशी से कहा, "देखो हम एक नया पौधा लाये हैं, काही की जाति का है, पर हरा नहीं सफेद-सा है।" फिर मेरी ओर संकेत कर के, "यह तो फेंके दे रहा था, मैंने रोक दिया।"

गुरुजी की विशेषता थी कि हँसने की बात पर हँसते नहीं थे, और भी गम्भीर चेहरा बना लेते थे। उन की इस वैज्ञानिकोचित गम्भीरता से प्रभावित हो कर छोटे जोशी ने कहा, "कहाँ, देखूँ, सफेद तो होगा ही, इतनी ऊँचाई पर हरा थोड़े ही होगा।"

गुरुजी ने कहा, "हाँ और यह सतह पर था भी नहीं, गहरे पानी का उद्भिज है न।"

छोटे जोशी ने गिलास ले लिया। मुग्ध दृष्टि से उस में तैरते 'कुछ' को देखते रहे। फिर बोले, "लाओ, माइक्रोस्कोप निकालो, इस की रचना स्टडी करूँगा।'

अन्वीक्षक मेरे जिम्मे था, क्योंकि विद्युद्दर्शक की फ़िल्म से माप ले कर लिखना मेरा काम था। रोज़ दो घंटे मैं यही करता था।

मैंने उचित न-नु-नच के बाद माइक्रोस्कोप उन्हें दे दिया। फिर हम लोग बाहर बैठ कर पढ़ते रहे, फिर चट्टानों से भटक आये, और कुछ समय तक मैं छेनी से एक बड़ी शिला पर अपनी मंडली के नाम खोदता रहा। सोचा गया था कि यह स्मारक आगमिष्यत् दर्शकों के लिए वहीं स्थापित कर जायँगे।

एक बजे खाना आया, तो जोशी अभी माइक्रोस्कोप पर ही थे। बुलाया तो बोले, "इस की स्ट्रक्चर अभी तक समझ में नहीं आयी—है तो मॉस (काही) ही, पर इस की टिशू-स्ट्रक्चर (शिराओं की रचना) कुछ अजीब है।"

मैंने बाहर से ही कहा, "ज़रूर होगी। पर अभी खाना खाने आइये।"

ज़बरदस्ती उठा कर उन्हें खाना खिलाया गया। उस के बाद मेरे माप लेने की बारी थी, मैंने कहा, "माइक्रोस्कोप मुझे चाहिये।" ज़िद करने के बाद वह उठे, उठ कर उन्होंने अपने उद्‌भिज को फिर गिलास में डाला और माइक्रोस्कोप के पास रख कर बोले, "तुम्हारा काम खतम हो जाय तो मैं फिर देखूँगा।"

मैंने कहा, "अच्छा।"

माइक्रोस्कोप सफ़री मेज़ पर रहता था। मैंने मेज़ अपनी ओर खींची तो गिलास लुढ़क गया।

छोटे जोशी ने चिल्ला कर कहा, "अरे मेरा पौधा", किन्तु गिलास उठाया तो उस में कुछ नहीं था।

छोटे जोशी गुस्से से कुछ बोल न सके। मेरी ओर देखते रहे, उन के ओठ निःशब्द फड़कते रहे।

मैंने कहा, "हुआ क्या फिर!"

उन का गुस्सा उभर आया, शब्द भी उन्हें मिले। "तुम कहते हो, हुआ क्या? तुम्हें क्या मालूम क्या हुआ!"

गुरुजी ने शह दी। मुझ से बोले, "न्यूटन की नौकरानी के बाद विज्ञान का दूसरा अहितकारी तुम हो।"[1]

छोटे जोशी एक तरफ़ उदास हो कर बैठ गये। गुरुजी ने कहा, "नेबर से डाई, जोशी—शायद और पौधा मिल जाय। एक अगर नाव से सटा हो सकता है तो दो भी हो सकते हैं।"

जोशी उछल पड़े। "चलिए, देखें।"

दोनों नाव की ओर चले। पीछे-पीछे मैं भी। नाव पानी से निकाल कर सूखे में रखी हुई थी, चारों ओर से उसे देखा गया। तब गुरुजी ने झुक कर किरमिच की सीवन से एक गुथीला धागा तोड़ कर कहा, "लो, इसे पानी में डाल लो, अभी मुरझाया है, ताज़ा हो जायगा।"

---

१ न्यूटन की नौकरानी ने उनके कमरे की सफ़ाई करते हुए उनके शोध ग्रन्थ के जहाँ-तहाँ बिखरे पड़े पन्नों को समेट कर आग के हवाले कर दिया था।

छोटे जोशी अवाक् उन की ओर घूरते रहे। थोड़ी देर बाद मुड़े और मुझे घूरने लगे। फिर चुपचाप तम्बू की ओर लौट गये। उसके बाद तीन दिन वह मुझ से बोले नहीं, एक दिन तो खाना भी न खाया।

हम लोगों के साथ दो विद्युद्दर्शक थे। एक छोटा, जिसे हम 'तोते का पिंजरा' कहते थे, और जो पहले अभियान में भी हो आया था। एक बड़ा, जो इस अभियान के लिए तैयार किया गया था। लगभग १५० फ़ुट की गहराई तक इस को रखा जा चुका था। एक दिन २०० फ़ुट नीचे डाला गया तो देखा, उस के भीतर पानी चला गया है। बाहरी वर्म के टाँके उतने पानी का दबाव न सह सके थे। टाँका लगाने का सामान तो हमारे पास था, पर उस ऊँचाई पर आग की शिखा उतनी गर्म न होती थी, और हवा का दबाव चढ़ाने के साधन हमारे पास न थे। अतः कोंसरनाग से माहीनाग तक उतर कर टाँका लगाया गया और फिर कोंसरनाग परीक्षा के लिए लाया गया; माहीनाग का पानी गहरा न था। आना जाना एक दिन का काम था और टाँका सफल न होने के कारण तीनचार बार जाना पड़ा। इस प्रकार हमारा तीन सप्ताह का अभियान लम्बा होने लगा। इस बीच एक दुर्घटना घटी।

बड़े विद्युद्दर्शक को २५० फ़ुट गहरा डाला गया। विद्युद्दर्शक को एक लम्बी रस्सी के कुंडे में अटका कर डाल देते थे, ऊपर का सिरा एक तैरने वाले ड्रम के साथ लगा रहता था। समय होने पर यन्त्र को ऊपर खींच कर रस्सी से अलग कर लेते थे, और आवश्यक परिवर्तन के बाद फिर लटका देते थे। झील की गहराई कितनी थी इस की थाह हम न पा सके। ३५० फ़ुट तक गहराई हमने नापी थी और हमारी रस्सी चुक गयी थी। साधु हम लोग थे नहीं कि गहराई मापने के चरम उपाय बरतते![१]

---

१ पहाड़ों में एकाधिक झील के बारे में ऐसी प्रसिद्धि है कि उस की गहराई अतल है। उसे एक साधु ने नापना चाहा था और इस के लिए वह दस वर्ष तक रस्सी बटता रहा। फिर पत्थर बाँध कर उसने रस्सी डालना शुरू किया, किन्तु रस्सी चुक गयी, थाह न मिली। तब उसने हार कर अपनी जटा भी रस्सी के छोर के साथ बाँधी और स्वयं पानी में

दो घंटे बाद गहराई बदलने जाना चाहिए था, किन्तु उस दिन तेज़ हवा थी और झील में छालियाँ उठ रही थीं। हमारी किरमिच की खटिया-सी नौका उस में नहीं जा सकती थी। तीन घंटे बाद जब हम पहुँचे तो रस्सी ढीली करने पर वह कुछ हल्की-सी मालूम हुई। उसे खींच कर निकाला गया। वह क्रमशः हल्की होती हुई ऊपर उठी और काँपते हाथों से गुरुजी ने जब उस का अन्तिम अंश निकाला तो देखा, उस के नीचे कुंडा छूँछा लटक रहा था; विद्युद्दर्शक नहीं था!

जो लोग कम बोलते हैं, वह यों ही मुझे अच्छे लगते हैं। किन्तु जो लोग काम के वक्त एक शब्द भी नष्ट नहीं करते, उन के सामने मैं श्रद्धाविनत हूँ।

गुरुजी ने रस्सी पानी में डाल दी, तैरने वाले ड्रम को देखा, और एक बार चारों ओर नज़र दौड़ा कर उसकी स्थिति मानों निश्चित कर ली। फिर बोले, "वापस ले चलो, वी मस्ट ड्रैग द लेक।"

मैंने चुप डाँड़ खेना शुरू किया। मन ही मन गणित के एक प्रश्न से उलझा रहा। ढाई मील लम्बी, पौन मील चौड़ी झील में कितने वर्ग गज़ होते हैं, और हमारी दो वर्ग गज़ की नौका, घंटे में दो मील की चाल से, कितने घंटे या दिन-सप्ताहों में उसे नाप सकेगी? कुएँ में काँटा डाल कर डोल निकाल लेना एक बात है; यहाँ पर, इतना बड़ा प्रसार जिस में ठीक स्थान का पता नहीं, ड्रम तैर रहा है अवश्य, पर हवा उसे कितनी दूर ले गयी होगी क्या पता, फिर विद्युद्दर्शक के ऊपर इतना छोटा कुंडा है कि उसे अटकाना लगभग असम्भव है। फिर हमारे पास काँटे कहाँ हैं? एक ड्रम में लगा है, एक दूसरे विद्युद्दर्शक का निकाल लेंगे, एक फ़ालतू है; तीन सीधे काँटों से क्या होता है? झील की गहराई न जाने कितनी है; अगर हम विद्युद्दर्शक को देख भी लें तो भी उसे खींचना सम्भव नहीं...

किन्तु बोलना व्यर्थ था। कर्म बहुत से आघात सहने का एकमात्र उपाय होता है—फिर कर्म वह कितना ही असंगत क्यों न हो...

कूद पड़ा। "जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ" का यह अच्छा उदाहरण है और रूपक के तौर पर इस कथा का अपना सौन्दर्य है, किन्तु झीलों की भौतिक गहराई की माप यों नहीं हो सकती, ऐसी हमारी धारणा थी!

उस दिन, दूसरे दिन, तीसरे दिन हम लोग पागलों की तरह झील के मध्य-भाग के चक्कर काटते रहे। नाव में दो ही बैठ सकते थे; मैं डाँड खेता, गुरुजी रस्सी डालते...जब मैं थक जाता तो किनारे जा कर जोशी जी से बदल लेता, वह डाँड़ खेते। हम तीनों बारी ले लेते, किन्तु गुरुजी जो रस्सी ले कर बैठे तो बैठे ही रहे। खाने-पीने की उन्हें सुध नहीं थी, हम लोगों के बहुत आग्रह करने पर यह सोच कर कि उन के न खाने से हम भी न खायेंगे वह दो कौर मुँह में डाल लेते। तीन दिन में उन के चेहरे का रंग ही और हो गया था, और इतने दिनों में बढ़ा हुआ वज़न फिर बराबर हो गया था। बड़े जोशी जी का तो कहना था कि उन के बाल भी अधिक पक गये हैं देखते-देखते...

दूसरे दिन गुरुजी ने कहा, "नया यन्त्र बनाने में कम-से-कम चार महीने लगेंगे; पिछली बार तो साल लगा था। यह साल तो गया।"

तीसरे दिन उन्होंने कहा, "अब तोते के पिंजरे से ही जितना काम लिया जा सके। कुछ तो नतीजा ले कर जाना चाहिए।"

हमने कहा, "हाँ।" और सब लोग काम में लग गये। पिछले तीन-चार दिन में किसी ने हजामत नहीं बनायी थी। अब मानों समझौता-सा हो गया कि काम पूरा हुए बिना दाढ़ी न बनायी जायगी।

काम और भी उत्साह से चलने लगा। किन्तु उत्साह जितना हो, काम तो अब कम था, और समय बहुत मिलता था। हमारा प्रवास लम्बा होता जा रहा था, और रसद की भी व्यवस्था करनी थी, अतः आठ दिन की रसद रख कर एक घोड़े वाले को चिट्ठी और आर्डर दे कर श्रीनगर भेजा गया। लौटते हुए शुपियाँ एक दिन में पहुँच सकते हैं, इस प्रकार पाँच दिन में आना-जाना हो सकता था; श्रीनगर में दुकान से पहले ही व्यवस्था कर ली गयी थी कि आर्डर मिलने पर सामान भेज देंगे। तीन दिन की गुंजाइश रखी गयी है, यह सोच कर हमारा खाने का क्रम पूर्ववत् चलता रहा।

एक दिन गुरुजी ने कहा, "तुम्हारा वह समाधि-लेख तैयार हुआ कि नहीं?"

मैंने कहा, "कैसा समाधि-लेख?"

"हमारे खोये विद्युद्दर्शक का समाधि-लेख, बल्कि सारे अभियान का।"

मैंने मन ही मन सोचा, गुरुजी अब विद्युद्दर्शक को ले कर ठट्ठा करने लायक हो गये, अब ठीक है। कहा, "नहीं तो, पूरा कर दूँ?"

"जरूर।"

तीन दिन खोद-खोद कर मैंने शिलालेख तैयार कर दिया : 'कॉस्मिक रे एक्सपेडिशन, अगस्त, १९३९', इसके बाद चारों के नाम और कालेज का नाम। इस शिला के आसपास बैठ कर फ़ोटो भी लिया गया। मैंने फ़ोटो लिया, अतः मेरे स्थान पर एक टोपी रख दी गयी।

अब उस अभियान का स्मारक यही फ़ोटो हमारे पास बचा है।

पाँच दिन हो गये।

रसद नहीं आयी।

'कल आ जायगी', यह सोच कर छठा दिन भी बीता, सातवाँ भी, आठवें दिन का राशन दो हिस्सों में बाँट लिया गया; रसद आ जायगी तब खत्म करेंगे।

नौवाँ दिन आ गया।

उतनी ऊँचाई और ठंढ में शरीर की शक्ति और गर्मी बनाये रखने के लिए यथेष्ट और पौष्टिक भोजन अनिवार्य था। गूजरों से हमें जो दूध मिल जाता था, उसका बड़ा सहारा था। यों उस का स्वाद तो बहुत से स्वादों और गन्धों का मिश्रण होता था जिन में अजवायन की गन्ध मुख्य थी, पर उस वैचित्र्य के हम आदी हो गये थे।

अब रसद चुक जाने पर दूध ही दूध रह गया। इधर दूध भी कम सुलभ हो गया था। गूजरों का नीचे को निर्यात आरम्भ हो गया था। फिर दूध से जी न भरता था। पहाड़ी दूध में घी का अंश भी बहुत कम होता है—घास-बूटी खा कर, क्या मक्खन हो; फिर निरे पेय से काम नहीं चलता, कुछ चर्व्य अवश्य होना चाहिए। गुरुजी ने बताया कि वहाँ घास में होने वाले एक जंगली पौधे का शाक बन सकता है; वह उसे खा कर दिन काट चुके थे। इस बहुत छोटे पौधे की पालक-सी चौड़ी

पत्ती होती है, बीच में एक लम्बे डंठल पर पीला फूल लगता है जो झरने पर रूई का गेंद-सा बन जाता है। तोड़ें तो डंठल से दूध निकलता है। हमने बहुत-सी पत्ती इकट्ठी कर के साग बनाया, नमक कुछ बचा हुआ था; साग कड़ुवा था, किन्तु पेट तो भरता था और 'खवास' को भी कुछ शमित करता था। उस के बाद दूध पी लेते। अब भी जैसे-तैसे पाँच-छः सेर दूध हमें मिल ही जाता था; उस के लिए ज़्यादा खोज अवश्य करनी पड़ती थी।

पाँच दिन के अति-सात्त्विक भोजन के बाद घोड़े वाला आया। मालूम हुआ कि रास्ते में जब उसे ध्यान आया कि वह अपनी ससुराल में केवल तीन मील के फ़ासले से जा रहा है, तब उस से न रहा गया और वह स्त्री को देखने चला गया। जाती बार दो दिन वहाँ रह गया था; आती बार सीधा ज़रूर चला आता, किन्तु जिस दिन उसे लौटना था उस दिन ससुराल वालों ने सेदाऊ में आदमी बिठा रक्खा था; उसे फिर वहाँ जाना पड़ा नहीं तो बीवी से लड़ाई हो जाती। और बीवी को खुश करने के लिए वह हमारे राशन में से दो टीन मुरब्बे के और थोड़ी चीनी उसे दे कर तब कहीं आ पाया है।

उस की इस करुण कहानी ने वातावरण हल्का कर दिया। गुरुजी ने कहा, "आज शेव कर डालना चाहिए।"

मैंने कहा, "खानसामा को स्पेशल आर्डर देना चाहिए आज।"

शिलालेख के आसपास धूप में हम लोग नंगे बदन अपना-अपना उस्तरा-साबुन-ब्रुश-कटोरा ले कर बैठ गये। क्षौर-यज्ञ आरम्भ हुआ।

तभी देखा, कुंगवतन की ओर की ढाल से दो-तीन अजनबी चले आ रहे हैं। तम्बू देख कर पहले तो वह ठिठके—हम लोग भी उस समय प्रागैतिहासिक वनौकस यूथ-से उन्हें दीखे होंगे, शिला के आसपास किसी अभिचार में निरत—किन्तु फिर चले आये। हमारे इतने लम्बे प्रवास में यही एक टोली कोंसरनाग आयी; ये लोग भी छू-कबड्डी के खिलाड़ी-से ही आये थे और थोड़ी देर में चाय पी कर जाने वाले थे। हमने उन्हें रोक कर अपने 'स्पेशल आर्डर' के खाने में न्यौत लिया।

खाना खाते समय उन्होंने पूछा, "इस दूर स्थान में भी आप लोग इतना बढ़िया खाना रोज़ खाते हैं?"

हमने कहा, "जी नहीं, यह तो आप लोगों के सम्मान में है।" यह बिलकुल सच तो नहीं था, पर उस से पहले दिन तक तो हम लोग बूटियाँ उबाल कर ही दिन काट रहे थे, इस लिए झूठ भी नहीं था।

उन में से एक ने कहा, "तब तो आप ने हजामत भी हम लोगों के सम्मान में बनायी है, हम बहुत आभारी है आप के।"

गुरुजी ने कहा, "असल में हम आप लोगों को अपने एक साथी का श्राद्ध खिला रहे हैं; वह इसी झील में डूब गये बिचारे!"

वे लोग सहसा शंकित-चिन्तित हो आये। "कब?"

मैंने कहा, "आज तेरहीं तो है। वह देखिए न उन का समाधि-लेख!"

और इतनी अवधि में 'देसवालिये' कोई वहाँ नहीं आये। आते थे गूज़र लोग, जिन के लिए हम लोग अद्भुत जन्तु थे। वहाँ साधारण लोग तो रहते नहीं, फिर हम लोग झील में नहाते थे और तैरते थे, जब कि गूज़र लोग कभी मुँह धोने के लिए भी उस पानी को नहीं छूते थे; बड़ी झील में जिन्न जो बसता है! हम लोग जब नहाने जाते तब वे पीछे-पीछे जाते और किनारे बैठे देखते रहते, और जब नाव झील पर जाती तब का तो कहना ही क्या! पहली बार हम लोग नाव ले गये तब जिन्होंने देखा उन्होंने पुकार कर सब को बुला लिया, और लगभग तीन सौ व्यक्तियों की भीड़ ने हमारा सन्तरण देखा।

इस के बाद एक दिन लम्बी दाढ़ी और तीखी आँखों वाला एक पग्गड़-धारी व्यक्ति हम से मिलने आया। वह स्पष्ट ही उत्तर-पश्चिम सीमा-प्रान्त का व्यक्ति था, और लबादे और झोले से कुछ-कुछ फकीरनुमा मालूम होता था; मगर उस की आँखों की नाप-तौल कर आँकने वाली नज़र, उस के कुछ फूले शिथिल विलासी गाल, और ओठों की कोर से नीचे जाती हुई गहरी क्रूर रेखाएँ आग्रहपूर्वक कहती थीं कि उस की वासना और चाहे जिधर रत हो, अध्यात्म की तरफ़ नहीं थी...

वह आ कर हमारे तम्बू के सामने बैठता हुआ बोला, "अस्सलामालेकुम्।"

हमने कहा, "वलेकुम्।"

"सब खैर?"

"अल्लाताला की मेहर है।"

वह हम लोगों को आँखों से तौल कर मोल आँकता रहा। हम भी कौतूहली दृष्टि से देखते रहे।

अब वह गुरुजी को सम्बोधन कर के बोला, "हुज़ूर के वास्ते तोफ़ा लाया है।" एक मट्टी की हँड़िया उसने आगे बढ़ायी।

"शुक्रिया। क्या चीज़ है इस में?"

"हुज़ूर दूध है।"

गुरुजी ने मेरी ओर देखा। इशारों में हम लोगों ने बात कर ली। गुरुजी ने कहा, "आप का बहुत शुक्रिया। लेकिन हम लोगों को जरूरत के माफ़िक दूध तो गूजर लोग देते हैं। बग़ैर ज़रूरत के चीज़ नहीं लेनी चाहिये।"

मैंने कहा, "साहब मुफ्त कोई चीज़ नहीं लेते हैं।"

"तो हुज़ूर जो चाहे दाम दे दीजिए।"

"कैसा दूध है, गाय का कि भैंस का?"

वह तनिक रुक कर बोला, "हुज़ूर, भैंस का।"

मैं समझा कि वह कुछ झिझका कि झूठ बोल दे, पर अन्त में सच बोल रहा है। मैंने कहा, "भैंस का दूध तो हम लोग नहीं पीते। गाय का होता तो ले लेते।"

उसने फ़ुर्ती से कहा, "हुज़ूर यह तो गाय का दूध है? भैंस तो इस मुल्क में है ही नहीं।"

यह बात तो ठीक थी। गूजर भैंस पालते हैं अवश्य, लेकिन यायावरों में गाय ही प्रायः होती है, भैंस को जहाँ-तहाँ ले जाया नहीं जा सकता। और उधर भैंस हमने कहीं देखी भी न थी। किन्तु वह पहले क्यों झूठ बोला?

हमने कहा, "तुम पहले झूठ क्यों बोले, अब कुछ यक़ीन नहीं कैसा दूध है।"

"हुज़ूर सो तो आप को खुश करने को कहा; हम समझा आप गाय का दूध नहीं पीते हैं।"

"न भी पीते तो भी क्या, झूठ तो झूठ है।"

दूध न लिया गया। पर वह टला नहीं। बड़े जोशीजी ने कहा, "यह तो डाकू मालूम होता है, टोह लेने आया है।"

किन्तु अवांछित अतिथि को भी कैसे खदेड़ा जाय। हम लोग अपने-अपने काम में लगे। वह बैठा देखता रहा।

जब हम नाव ले कर पानी पर चले, तब भी वह किनारे पर बैठा देखता रहा। हम जब लौटे तब भी वहीं था। किन्तु तब बोला, "हुजूर, नाव पर जाना ठीक नहीं है।"

"क्यों?"

"उस में जिन्न रहता है। बहुत खतरनाक जिन्न है। इबलीस है।"

हम हँस दिये।

उस ने फिर पूछा, "वह पिंजरे में क्या है?"

गुरुणी ने हँस कर कहा, "यह हमारा जिन्न है। बहुत ताकतवर जिन्न है।"

उसने गम्भीर हो कर सुना। दीखा कि उसे विश्वास हो गया है। और वह मन-ही-मन जो हिसाब लगाता रहा, वह भी हम समझ सके: इन लोगों का जिन्न ताकतवर है, इन्होंने अपना जिन्न झील में छोड़ कर झील के जिन्न को पिंजरे में बन्द कर लिया है, इसी लिए ये बेखटके घूमते हैं...

उस दिन वह चला गया। फिर वह रोज़ आने लगा, और क्रमशः उस के गुण हम पर प्रकट होने लगे।

वह जादूगर था। गूजरों का मन्त्री, पुजारी, वैद्य, जर्राह, साहूकार, पुरोहित, मास्टर—सब कुछ वह था। जिस गूजर की गायें सूखी होतीं वह उसे जरूरत के अनुसार रुपया देता, और सौदा पटा लेता कि अगर बछड़ा होगा तो उस का—बछड़े गूजरों के कम काम आते हैं—और इस के अलावा दूध वह जितना लेगा बत्तीस सेर के भाव, या घी बनवा कर लेगा तो रुपए का चार सेर......यह दूध-घी वह गूजरों को ही नाम-मात्र मजदूरी दे कर शुपियाँ के निकट अपने आदमी के पास पहुँचाता, वहाँ उसे ढाई-गुने दाम मिलते। गूजरों की भेड़ों की कुछ ऊन वह खरीदता, और खाने के लिए जब-तब एक भेड़ रूँगे में मिल जाती। और अपने इस साहूकारे की धाक बनाये रखने के लिए बाकी सब पेशे भी करता। गूजरों के तीस-एक बच्चों को वह पढ़ाता—उस के मदरसे की पढ़ाई थी दस तक गिनती और एक रुपए के आने और आनों के पैसे बनाने तक का गणित; 'लाइलाहा-इल्लिल्लाह, मुहम्मद रसूल इल्लाह' तक धर्म और बस। 'ऊँची कक्षाओं' के

पढ़ाने के लिए एक पुस्तक भी उस के पास थी—इसे सामने रख कर वह क्लास को व्यावहारिक ज्ञान सिखाता था। कौतूहल-वश यह 'टेक्स्ट बुक' मैंने देखी थी—मैल की पपड़ी जमे वेठन के भीतर उर्दू की 'स्त्रियों के गुप्त रोग और उन की चिकित्सा' की चालीस पृष्ठ की फटी-सटी पुस्तक जो किसी कम्पनी ने अपनी दवाओं के सूचीपत्र को आड़ देने को छापी थी!

वही गूजरों का डाक्टर भी था। जब-तब उन्हें जड़ी-बूटी देता था, कभी तली हुई गिरगिट, दूध में उबाल कर मक्खन में छौंके हुए केंचुए, या राब में पकाये हुए मेंढ़क, या सींग घिस कर बनायी हुई बटी, या अन्य ऐसी चमत्कारी दवाएँ भी दिया करता था, जिन का नाम सुन कर रोग भाग जाय और जिन्हें खाने पर न होता हुआ रोग भी आ लगे! सब से कम खतरनाक औषध शायद राख और कपूर का चूर्ण था जो वह सब चक्षु रोगों में सुरमे के रूप में देता था। मोटे 'प्लास' से डाढ़ भी वह उखाड़ सकता था। एक बुढ़िया गूजरी हम ने देखी जिस का सामने का एक दाँत बिल्कुल सीधा सामने को निकला हुआ था; मालूम हुआ कि हकीम साहब ने उस के प्लास से दाँत न खिचवाने पर दूसरी तरकीब यह बतायी थी कि दाँत के चारों ओर ताँत का डोरा बाँध कर उस से पत्थर लटका छोड़े—दाँत धीरे-धीरे निकल जायगा। दाँत निकला तो नहीं, किन्तु भार से थक कर बुढ़िया के किसी चट्टान पर माथा टेक कर बैठ कर रहने के कारण वह मुड़ कर सामने को उग आया। तब से दर्द भी कम हो गया (जिसका श्रेय हकीम साहब को मिला—या उन्होंने लिया)।

एक दिन उसने नाव में सैर करनी चाही। मैं तो राजी हो जाता—मैं सोचता था कि गूजरों में से कोई भी झील के आतंक से मुक्त हो सके तो वह उन्नति की ओर एक कदम होगा—पर गुरुजी ने मना कर दिया। उन्होंने सोचा कि अगर यह पानी पर डर गया तो नाव डुबा देगा, और अगर सकुशल लौट आये तो गूजरों पर और भी धाक जमायेगा कि साहब ने अपना जिन्न मेरे हवाले कर दिया था कि झील के जिन्न को काबू करने का मन्त्र मुझे दे दिया, या ऐसा ही कुछ। इस प्रकार गूजरों के जीवन पर उस की जकड़ और कड़ी होगी और वे और गहरे दलदल में जा फँसेंगे......

'सृष्टि का सिरताज मानव' शक्ति के घोड़े पर चढ़ कर पतन के कितने गहरे गर्त में जा सकता है, इस की कोई सीमा नहीं है......

दूसरी सितम्बर को तड़के उठ कर बाहर निकला तो पंखों की फड़फड़ाहट सुन कर चौंका—कोई परेवे वहाँ नहीं देखे थे। फड़फड़ाहट झील की तरफ़ से आ रही थी।

फीके प्रकाश में देखा, झील की नीलिमा पर कुछ सफेद तैर रहा है। बर्फ़ के टीले तब तक गल चुके थे। सहसा पहचाना कि यह जल-पक्षियों का झुंड है...मुरगाबियों की कोई जाति।

उस समय तीन-चार अलग-अलग झुंड थे। कुछ पक्षी सफेद, कुछ भूरे से। दोपहर तक बीसियों झुंड हो गये।

घोड़े वाले ने कहा, "हुजूर अब यहाँ से चलना चाहिए। परसों बर्फ़ पड़ेगी।"

"कैसे मालूम है?"

पता लगा कि दूसरी या तीसरी सितम्बर को ये पक्षी झील पर उतरते हैं, और उन के पीछे-पीछे बर्फ़ आती है—तीसरे दिन अवश्य ही झील पर बर्फ़ पड़ती है—तब तक अन्यत्र चले जाते हैं।

हमारा काम—जितना वह हो सकता था—लगभग पूरा हो गया था। तीन सितम्बर को प्रातःकाल हम लोगों ने कूच किया, शाम को शुपियाँ पहुँच गये। तब बदली घिर रही थी, और पीछे कोंसरनाग की ओर स्पष्ट ही तूफ़ान के आसार हो रहे थे। मन-ही-मन हमने देखा—हमारा शिलालेख देखते-देखते बर्फ़ से ढक गया है। फिर झील पर पपड़ी जमने लगी है। मानों झील के जिन्न ने सहसा क्रुद्ध हो कर हमारे अनधिकार पद-प्रक्षेप का चिह्न-मात्र मिटा देने का निश्चय किया हो। कहाँ कोंसरनाग का चिरन्तन जिन्न, और कहाँ चार अज्ञ, अकिंचन मानव-द्विपद! क्या हुआ अगर वे कास्मिक किरणों की खोज में आये हैं—वे खोजी ही तो हैं जब कि जिन्न अपने चौड़े स्फटिक वक्ष में आकाश के अकथ रहस्यों को मुकुरित करता रहा है—न जाने कब से!

यों तो कोंसरनाग यात्रा का—और कास्मिक रश्मियों की खोज के उस अभियान का—यहाँ अन्त हो जाता है। किन्तु उस का अन्त स्वयं एक कहानी है, जिस का आरम्भ हम लोगों के श्रीनगर पहुँचते-पहुँचते हो गया!

हमारे पीछे श्रीनगर में बाढ़ आ गयी थी। किसी चित्रकार की निष्कम्प तूली से लिखी हुई-सी आँकी बाँकी वितस्ता, सब सीमाएँ लाँघती हुई श्रीनगर की चौड़ी उपत्यका को भरती जा रही थी। पामपुर वाली सड़क के पास जल हिलोरें लेता हुआ देखा था, श्रीनगर पहुँचे तो पता लगा कि बन्ध के टूट जाने का डर है। इस लिए सेना को बुला कर उस पर तैनात कर दिया गया है। बन्ध नदी के किनारे पर मट्टी थोप-थोप कर बनाया हुआ ऊँचा कगार है, जिस के साथ-साथ श्रीनगर की बड़ी-बड़ी दूकानें भी चलती है। किन्तु श्रीनगर के संकट से भी अधिक चिन्तनीय बात हमारे लिए यह हुई कि हमने होटल में जो स्थान माँग रखा था वह हमें नहीं मिला—बाढ़ के कारण बहुत से जाने वाले रुक गये थे। और बहुत से सैलानी श्रीनगर में जमा हो गये थे और सब होटल भर गये थे—बरामदों में लोग पड़े थे।

उधर ताँगे हमारा सामान उतारने को उतावले थे। हमने बन्ध पर ही सब सामान उतार कर ख़ानसामा को वहाँ बिठाया और बजरों (हौस-बोटों) में स्थान ढूँढ़ने चले; पर कोई हमें रात रहने देने को राज़ी न हुआ। पानी अब भी घरघराता हुआ चढ़ रहा था, बजरे वाले सब सजग बैठे थे और वज़न बढ़ाने को तैयार न थे।

बहुत कह-सुन कर एक विराट् हौस-बोट में बने हुए होटल के मैने-जर को राज़ी किया कि हम चारों को रात-भर के लिये स्थान दे दें, और ख़ानसामा को होटल के नौकरों वाले डोंगे में—जिस के लिए पचास रुपये देना ठहरा। किन्तु हम लोग जब बन्ध से अपना सामान उठवा कर पहुँचे, तब सामान को देखते ही उस ने कहा, "यह बोट पर नहीं आ सकता—आप लोग रह सकते हैं पर सामान बाहर ही रहेगा।"

इस के लिए हम तैयार न थे। हमें सामान की ही अधिक चिन्ता थी। अन्त में हम लोगों ने सामान के साथ ख़ानसामा को एक तिरपाल और बरसाती दे कर छोड़ा, और विद्युद्दर्शक वाला बक्स और बिस्तरे ले कर आगे शरण खोजने चले। रात ग्यारह बजते-बजते आर्य-समाज के बरामदे में इतनी जगह मिल गयी कि सामान रख कर अधलेटे हो कर सो रहें। उस में भी हम लोगों ने सन्तोष की उसाँस ली जो शीघ्र ही प्रगाढ़ निद्रा की नियमित साँस बन गयी।

सवेरे बन्ध पर ही एक अमृतसरी की दूकान पर उर्द की गर्म कचौरियाँ खायीं और दूध पिया। अमृतसर के चटोरे पारखी होते हैं और चाट वाले कारीगर; वहाँ की कचौरी और कुल्फ़ी-फ़ालूदा अद्वितीय माने जाते हैं। अमृतसर में तो कचौरी खाने की ज़रूरत ही कभी नहीं पड़ी, पर श्रीनगर के उस कचौरी वाले की प्रशंसा अवश्य करूँगा। उस की कचौरियों पर हम लोग ऐसे मुग्ध हुए कि उस से पाँच-पाँच पैसे में चार-चार पैसे वाले लिफ़ाफ़े खरीद कर हम सब ने चिट्ठियाँ लिखीं। तब यह न मालूम था कि डाक से हमी पहले पहुँचेंगे, यद्यपि हमें भी निकलते-निकलते सात दिन और लग गये।

कचौरी खा कर हमने सामान की खबर ली। रात में वृष्टि हुई थी। सामान बुरी तरह भींग गया था। पीछे खोलने पर मालूम हुआ कि हमारे लिये हुए चित्रों के मूल नेगेटिव—गुरुजी के, जोशी जी के, और मेरे—सब भींग कर नष्ट हो गये थे। धोये जाने से पहले ही। एक पैकेट कुछ सूखा निकला, उसे तत्काल धोया, तो उस में निकले मेरे खोदे हुए हमारे 'समाधि-लेख' के दो चित्र!

कुछ कहने के लिए मैंने गुरुजी से कहा, "अब इस चित्र का ऐतिहासिक महत्व और भी बढ़ गया। पूरे अभियान का यही चित्र बचा है।"

उन्होंने अपनी परिचित वक्र मुस्कान के साथ कहा, "हाँ, और उसे चरम गौरव देने के लिए हम सब को भी बाढ़ में डूब जाना चाहिए था। पर मुझे तो इतिहास की अपेक्षा अपने प्राण प्यारे हैं।"

इस बात में तो सन्देह नहीं था, क्योंकि उन्हें इतिहास में रुचि कम थी। पर कभी सोचता हूँ, क्या विज्ञान के बारे में भी वह ऐसा कहते, तो सोचता ही रह जाता हूँ।

जो हो; वह परम ऐतिहासिकता भी हम लोग पाते-पाते रह गये, क्योंकि अगले पाँच-छः दिनों से दुर्घटनाओं की ऐसी झड़ी लगी कि हमें चिन्तित होने का भी समय न मिला। परन्तु, उस का वर्णन यहाँ प्रसंगान्तर हो जायगा। वह अलग एक कहानी है। यहाँ इतना ही कहूँ कि राइडर हैगर्ड के उपन्यास की भविष्यवाणी "डेथ विल कम टु हिम स्विफ्टली ओवर द वाटर्स" सच न हुई, मृत्यु न आयी, केवल उस की सम्भावना की वह उत्तेजना आयी जो निरे अस्तित्व में स्फूर्ति उत्पन्न कर के उसे जीवन बनाती है—जीवन के भोज्य के षट्रसों में जो रामरस है।
